Why then Despair.

"आशा हि परमं धनम्"

फिर निराशा क्यों ?

लेखक

गुलाबराय, एम० ए०, एल-एल० बी०

'तुलसी' बिरवा बाग के, सींचत रहो सुजान।
कबहूँ तो फल लागि हैं, जिमि माधव को बान॥

प्रकाशक

अनन्तकुमार जैन

वीर मन्दिर—आगरा

द्वितीय संस्करण
सं० १९८०

मूल्य ॥=)

सम्पादक

बाबू शिवपूजन सहाय, "हिन्दी भूषण"

(आरा)

Hope, like the glimmering taper's light,
Adorns and cheers the way,
And still the darker grows the night,
Emits a brighter ray.

—Goldsmith.

"प्राप्तोताष्टमविक्लव:"

Our destiny, our beings heart and home,
Is with infinitude, and only there;
With hope it is, hope that can never die,
Effort, and expectation, and desire,
And something ever more about to be.

—Wordsworth.

मुद्रक

देवेन्द्र किशोर जैन

श्री सरस्वती प्रिन्टिङ्ग वर्क्स आरा ।

विषय-सूची।

१	विनीत प्रार्थना।		१
२	सम्पादकीय निवेदन	...	३
३	प्राक्कथन।	...	१२
४	आशा।	...	२४
५	लेखक का वक्तव्य।	...	२६
६	फिर निराशा क्यों?	...	३३
७	मनुष्य की मुख्यता।	...	४०
८	सत्तासागर।	...	४३
९	समष्टि व्यष्टि।	...	४७
१०	हमारा कर्तव्य और हमारी कठिनाइयाँ।		५२
११	सौन्दर्योपासना।	...	५५
१२	कुरूपता।	...	६०
१३	विश्वप्रेम और विश्वसेवा।	...	६४
१४	अपूर्ण की पूर्णता।	...	७०
१५	पुनीत पापी।	...	७३
१६	स्वयम्भू सुधारकों का सुधार।		७७
१७	दुःख।	...	८२
१८	भूल।	...	८५
१९	हमारा नेता कौन?	...	८९
२०	कर्मयोग की मोक्ष।	...	९३
२१	चिर-वसंत।	...	९७

आशापञ्चक

आशा बेलि सुहावनी, शीतल जाको छांहि ।
जिहि प्रिय सुमन सुफलन ते, मधुराई अधिकाहि १
आशा दीपक करत नीत, जिहि हिरदे में वास
ज्यों ज्यों छावे तिमिर घन, त्यों त्यों बढ़े प्रकास २
मानव—जीवन को सुखद, सरस जु देत बनाइ
सो आशा संजीवनी, किहि हत—भाग न भाइ ३
होहु निरासन हार में, धन्य लख्हु निज मान .
तोमे ईश्वर अंश को, देत जु प्रकट प्रमान ४
मीत न होहु निराश अब, लखि समाज को हास
मधुऋतु आगम सूचहीं, पतझड़ फागुन मास ५

—गुलाबराय ।

विनीत प्रार्थना ।

अपने पाठकों के करकमलों में 'इस' पुस्तक के रूप में एक नया उपहार रखते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इस पुस्तक के विषय में हम क्या कहें? जैसी कुछ है, आप के सामने है। हाँ, इतना कहे बिना तो हम रह नहीं सकते कि, इस पुस्तक को प्रकाशित करके हमें विशेष सन्तोष हुआ है। हम अपना परम सौभाग्य समझते हैं। किन्तु इसे हम परमात्मा की दया कहें या अपना अहोभाग्य कहें या सम्पादकजी का अनुग्रह कहें या लेखक की उदारता कहें, क्या कहें—सो तो कुछ समझ में नहीं आता। तो भी इतना कह देना आवश्यक है कि, परमात्मा की दया और हमारा महाभाग्य तो है ही, सम्पादक जी का प्रबल प्रोत्साहन और स्नेहपूर्ण साहाय्य भी इस का कारण है। फिर, लेखक-प्रवर की कृपा का तो कहना ही क्या है।

हम 'प्रेममन्दिर' की सभी पुस्तकें प्रकाशित करेंगे—केवल इस विचार से प्रेरित होकर कि, हिन्दी साहित्योद्यान के सुरसिक माली पूज्य बन्धुवर स्वर्गीय कुमार देवेन्द्र प्रसाद जैन की स्मृति अमरत्व प्राप्त करे। इस काम में हमारे एकमात्र सहायक हैं—'हिन्दी-भूषण' बाबू शिवपूजनसहाय 'मारवाड़ी-सुधार' और 'आदर्श' के सम्पादक जिन के उद्योग से हमें यह पुस्तक प्रकाशनार्थ प्राप्त हो सकी है। इस के लिये हम कृतज्ञ हृदय से उन्हें धन्यवाद देते

हैं और पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि, इस पुस्तक के लेखक की अन्यान्य रचनाएँ भी हम यथासाध्य शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे। साथ ही, यहाँ यह भी हम सूचित कर देना उचित समझते हैं कि, 'प्रेम मन्दिर' की प्रसिद्ध पुस्तकों के नये संस्करणों के सिवा हम अन्यान्य उत्तमोत्तम पुस्तकें भी आप की भेंट करेंगे। किन्तु यह सब कुछ आप की कृपा और परमात्मा की प्रेरणा पर निर्भर है। आशा है, आप 'फिर निराशा क्यों?' पढ़ कर हमें कभी हताश न होने देंगे।

वीरमंदिर, आरा   प्रणत

प्रकाशक।

अनन्त कुमार जैन



सम्पादकीय निवेदन

Read not to contradict and confute, nor to believe and take for granted, nor to find talk and discourse, but to weigh and consider. Some books are to be tasted, others to be swallowed, and some few to be chewed and digested: that is, some books are to be read only in parts; others to be read but not curiously; and some few to be read wholly, and with diligence and attention.

—Bacon's Essays.

यह पुस्तक एक ऐसे सिद्धहस्त लेखक की ओजस्विनी लेखनी से निकली है जिस के विषय में कोई परिचयात्मक अथवा प्रशंसात्मक शब्द कहना सर्वथा अनावश्यक है। लेखक महोदय का गम्भीर ज्ञानानुशीलन पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से प्रकट हो रहा है। फिर, 'हाथ कंगन को आरसी क्या'?

प्रथम बार यह पुस्तक प्रेम मन्दिर से निकली थी। अब—दूसरी-बार यह वीर-मंदिर से निकल रही है। विशेष सन्तोष की बात

यह है कि, वीर-मन्दिर द्वारा 'प्रेममन्दिर के प्रसिद्ध पुजारी' की पुण्य स्मृति की रक्षा हो रही है। आरम्भ में इस की हस्तलिखित प्रति मुझे देखने को मिली थी। आद्यन्त पढ़ कर मैं तो लेखक-महाशय की मौलिक प्रतिभा के चमत्कार पर क्षुब्ध हो गया। मैं आशा करता हूँ कि अब भी जो कोई इस पुस्तक को पढ़ेगा वह लेखक की विद्वत्ता, विषय-प्रतिपादन की योग्यता और भाव-प्रकटीकरण की सरस-सरल शैली देखकर प्रसन्न हुए बिना न रहेगा।

उदाराशय सहृदय लेखक महोदय की कृपापूर्ण आज्ञा से मैं ने इस बार भी इस पुस्तक को ध्यानपूर्वक दुहराया है। लेखक महाशय का स्वयंसिद्ध पाडित्य, किसी दशा में, मेरे जैसे तुच्छातितुच्छ व्यक्ति के सम्पादन-कौशल (!) का सहारा नहीं ढूँढ़ता। एक सुप्रसिद्ध उद्भट विद्वान् के 'प्राक्कथन' की विद्यमानता में भी मेरे इस सार-हीन वक्तव्य की कोई आवश्यकता न थी और न उसके सामने इस का कुछ महत्त्व ही है। किन्तु प्रकाशक के अनुरोध से मैं ने जो दुस्साहस किया है उस के लिये सविनय क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

आशा बलवती कष्टं
नैराश्यं परमं सुखम्।
आशा निराशाः कृत्वा तु
सुखं स्वपिति पिंगला॥

जो लोग भगवान् व्यास का यह वाक्य प्रायः कहा करते हैं उन्हें इस पुस्तक को अवश्य पढ़ना चाहिये। जिन लोगों ने प्रातः स्मरणीय भगवान् शङ्कराचार्य की 'चर्पटपंजरिका' में

दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिरवसन्तौ पुनरायातः
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः
तदपि न मुञ्चत्याशावायुः
भज गोविन्दं भज गोविन्दं
गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे ॥

[illegible] स्तोत्र का पाठ।

करोड़ों सज्जन इस संसार के आशा-पाश-बद्ध मनुष्यों को मोहमुग्धित मान कर हेय दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है कि—

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरंगाकुला.

महाकवि भर्तृहरि की यह उक्ति अत्यन्त युक्तियुक्त और उपयुक्त है। वे आशाओं से रहित हो जानेवालों को ही तपस्वी मानते है। जो आशान्वित हैं, उनके सिद्धान्तानुसार, वे माया के बाज़ार में भटक रहे है। जिन्हों ने आशाओं का जाल तोड़ कर अपनी मुट्ठीमें समेट लिया है, वे ही, उनकी समझ में, सब से बड़े वीर हैं। वे कहते भी है कि—

"आशाया ये दासास्ते दासाःसर्वलोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ॥"

किन्तु इस पुस्तक में यह बतलाया गया है कि, "जो हताश हो जाता है वह कापुरुष हैं और दृढ़ आशा के साथ जो अपने कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होता जाता हैं वही सफल-मनोरथ होता है। "दैव के भरोसे जीनेवाले अकर्मण्यों एवं आलसियों को इस से काफ़ी शिक्षा मिल सकती है और पुरुषार्थी कर्म्मवीरों को तो इसे अपनी चिरसंगिनी बनानी चाहिये किसी नीतिकार का कथन है कि—

"आशा नाम मनुष्याणां
काचिदाश्चर्यशृंखला;
यया बद्धाः प्रधावंति
मुक्तास्तिष्ठति पंगुवत् ॥"

यदि इस नीति के अनुसार विचार किया जाय तो विदित होगा कि,जो लोग आशा-बन्धन से मुक्त हो गये हैं वे ही पंगू—

अकर्मण्य—हैं। अतएव, जीवन-संग्राम में सफल होनेवाले के लिये यह आवश्यक है कि, वह अपने भविष्य पर आशा की उज्ज्वल किरणों का प्रकाश डाले। क्यों कि जिस का कर्तव्य मार्ग अभिनव आशा के आलोक से आलोकित नहीं है, वह पथ-भ्रष्ट हो कर मानव-जीवन के वास्तविक लक्ष्य से बहुत दूर जा पड़ता है। सच पूछिये तो, हम संसारियों के लिये 'आशा' ही सब कुछ है। इसीलिये सञ्जीवनी शक्ति है। इस के बिना हमलोग निष्क्रिय निर्जीव—हैं। फलतः, इस संसार में इस कर्मक्षेत्र में जो लोग सुख और सफलता पाना चाहते हैं (ऐसा कोई नहीं जो सुखकांक्षी न हो) उनके लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगिनी है। विश्वास है, इस से संसारियों का विशेष उपकार होगा।

आरा (बिहार)
भीष्माष्टमी १९८०

विनीत—
[illegible]



प्राक्कथन

संसार के विषय में दार्शनिक विद्वानों की मुख्यतः दो सम्मतियाँ हैं। एक सम्मति तो यह है :—

संसार एक नितान्त दुःखागार है। यहाँ अनेक व्याधियाँ, असहनीय पीड़ाएँ, अगणित आपत्तियाँ, हृदयदाहिनी चिन्ताएँ मनुष्यों को सदैव घेरे हुई हैं। कोई जरारोगादि से पीड़ित है; कोई पुत्र-शोक से विह्वल है; कोई सन्तानाभाव-दुःख से दुःखित है; कोई धनाभाव, दरिद्रता एवं ऋणादि दुःख से व्याकुल है; कोई धनोपार्जन के कष्टों से अशान्त-चित्त है; कहीं जन्म, कहीं मरण, कहीं रुदन, कहीं कराल बुभुक्षा, कहीं शरीर-पीड़ा, कहीं पुत्र-कलत्र-शोक-सन्ताप। सुख-शांति कहीं नहीं है। जिस वस्तु को देखो वही परिवर्तनशील और नाशवान् है नवयौवना मनोरमा सुन्दरी वृद्धा कुरूपा हो जाती है, अनेक-संग्राम-विजयी वीर जरा और रोग से जर्जर-शरीर हो जाते हैं। आज जो नितान्त दर्शनीय, कलाकौशल-सम्पन्न, अलौकिक शोभायुक्त भवन

दिखाई देते हैं, कल वे कराल काल की अनन्तर गति से उलूक-निवास खंडहर हो जाते हैं। संसार की कौन ऐसी वस्तु है जो कराल-काल का ग्रास नहीं बन जाती। समस्त सांसारिक वस्तुओं पर 'परिवर्तन और नाश' बड़े २ मोटे अक्षरों में लिखे हैं। महात्मा भर्तृहरिजी ने सत्य कहा है:—

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्रीः ।
अर्थाः सङ्कल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः ॥
कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम् ।
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहतः ।
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुर-निकर-ग्राहनिलयाः ॥
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता ।
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥

जब संसार की यह दशा है तो फिर यहाँ सुख कैसा ? इसी असारता पर विचार कर भारतवर्ष के अनेक ऐश्वर्य-सम्पन्न गृहस्थ पराक्रमी शूरवीर एवं संसार-विजयी सम्राट् अपने सब

सांसारिक ऐश्वर्य तथा राज्याडम्बर को त्याग वनों को चले गये और ईश्वराराधना में अपना शेष जीवन को व्यतीत किया। इनके आनन्द का आदर्श निम्नलिखित श्लोकों से ज्ञात होगा।

गङ्गातीरे हिमगिरिशिला-बद्धपद्मासनस्य।
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य॥
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः।
सम्प्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृंगकण्डूविनोदम्॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥

दूसरी सम्मति यह है :—

संसार में दुःख और पीड़ा अवश्य है; परन्तु सुख और आनन्द की मात्रा अधिक है। गुलाब के फूल में काँटा अवश्य है, परन्तु उसकी सुन्दरता, सुगंध एवं उपयोगिता इतनी अधिक मात्रा में है कि, जो पीड़ा उसके काँटे से होती है वह उनकी अपेक्षा नहीं की बराबर है। क्या कोई इस पुष्प को उसके काँटे की पीड़ा के भय से छोड़ देता है? जब हम नाना प्रकार के रङ्ग-बिरंगे मनोहर पक्षियों को अपनी मधुर और मन-मोहिनी ध्वनियों में

गान करते सुनते हैं ; जब हम हिमालय पर्वत के नैसर्गिक अनुपम शोभायुक्त दृश्यों को देखते हैं; जब हम पापनाशिनी जाह्नवी की पवित्र लहरों को शरदृतु के चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में कल्लोल करते देखते हैं ; जब हम नवयौवना रूप-सौन्दर्य-सम्पन्ना मृगनयनी स्त्रियों को अपने मधुर स्वरों में गान करते सुनते और देखते हैं ; जब हम नवविवाहित दम्पतियों को प्रेम की डोरी में बंधे हुए जीवनानन्द में उन्मादित देखते हैं ; जब हम बड़े २ नगरों में गगनस्पर्शी कला-कौशल सम्पन्न भवन-शिखरों पर दृष्टि डालते हैं ; जब हम किसी फले फूले उद्यान में जाकर उसकी अनेक सुशोभित विचित्र फुलवारियों तथा उसके नाना प्रकार के प्रफुल्लित वृक्ष और पौधों पर दृष्टिपात करते हैं ; जब हम विशाल विद्यालयों में जाकर सरस्वती देवी के अनुपम चमत्कारों को देखते हैं ; तब क्या हम कह सकते हैं ; कि यह संसार एक नितान्त दुःखागार है ? कदापि नहीं । क्या कोई ऐसी भी स्त्री है जो प्रसववेदना के डर से सन्तानोत्पत्ति न चाहती हो ? क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है जो पुत्र के लालन-पालन के कष्टों को असहनीय समझ पुत्र-रत्न को न चाहे ? क्या कोई ऐसा विद्यार्थी है जो विद्याभ्यास के दुःखों पर दृष्टि डालकर विद्या का त्याग करदे और अपने जीवन को निःसार बनादे ? क्या धनोपार्जन में भी जो कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ होती हैं उन पर दृष्टि डालकर लक्ष्मी प्राप्ति की

चेष्टाएँ छोड़ दी जाँय ? कठोर तप और अनेक शारीरिक कष्ट सहन करने के पश्चात् ईश्वर-प्राप्ति संभव है। क्या कोई सन्यासी इन प्रारम्भिक आपत्तियों के भय से इस अनुपम सिद्धि को छोड़ देता है ? संसार में दुःख अवश्य है : परन्तु यहाँ पर सुख का आधिपत्य प्रधान है। सुखकी प्राप्ति उन्हीं को होती है जो दुःखों और आपत्तियों का सामना करके उन पर विजय प्राप्त करते है और अपने अन्तिम लक्ष्य को प्रारम्भिक बाधाओं और कठिनाइयों के भय से नहीं छोड़ देते हैं। संसार एक रणभूमि है। जो वीर सदाचार का कवच पहरे हुये है, दृढ़चित्त, पुरुषार्थी और निडर है, उन्हीं के हाथ में सुख की विजय-पताका है—आलसी, हीनोत्साही, दुराचारी, कुत्सित मनुष्यों को इसमें सफलता नहीं होती है। अस्तु।

इन दोनों सम्मतियों में कौनसी ठीक है—यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। ये दोनों दृष्टियाँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आयी है। दोनों ही पक्षों में बहुत कुछ कहा जा सकता है : परन्तु बात तो यह है कि संसार न तो दुःखागार ही है और न सुख का भाण्डार ही। सुख और दुःख की स्थिति हमारे बाहर किसी बाह्य पदार्थ में नहीं है ! वरन् हमारे भीतर ही है। इनका उद्गम स्थान हमारा मन है न कि कोई बाहरवाली जड़ वस्तु। धुरन्धर दार्शनिक विद्वानों का ऐसा मत है कि मन के अतिरिक्त

और कोई बाह्य वस्तु ही नहीं। यह समस्त दृश्यमान संसार मन के भीतर ही है, बाहर नहीं।

संसार-रचना के तीन अन्तिम सूत्र हैं, अर्थात् काल, आकाश और कार्य-कारण-शृङ्खला। इन तीनों के आधार पर ही सब संसार की रचना है; और ये तीनों हमारे मन के भीतर हैं बाहर नहीं। यह सम्मति भूमण्डलके सभी बड़े २ तत्ववेत्ता और आचार्य्यों की है। भारत-वर्ष के महर्षियों ने तो इस सिद्धान्त को खूब ही पुष्ट किया है।

इस सिद्धान्त का महत्व उपनिषदों में भली भाँति दिखाया गया है; जैसा कि निम्न-लिखित वाक्यों से विदित होगा।

१

मन एव जगत् सर्वं मन एव महारिपुः।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम्॥

२

मन एव महद् दुःखं मन एव जगादिनम्।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा॥

३

मन एव हि संकल्पो मन एव हि जीवकः।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहंकार एव च॥

४

मन एव महद्द्रन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत् ।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥

५

मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान् ।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥

६

स्पर्शः रूपं रसं गन्धं कोशः पञ्च मनोभवाः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तादि मनोमयमितीरितम् ॥

७

दिक्पाला वसवो रुद्राः आदित्याश्च मनोभवाः ।
दृश्यमण्डं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥

इन उद्धृत वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो कुछ वस्तु है वह मन के भीतर ही हैं। मन के बाहर नहीं। इस मन को पाश्चात्य विद्वानों ने Idealism. के नाम से पुकारा है; परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का Idealism. इतना गम्भीर और स्पष्ट नहीं है जितना कि हमारे ऋषि महर्षियों का। उदाहरणतः उपर्युक्त उपनिषद्वाक्यों को देखो।

सारांश यह है कि सुख दुःख मन के बाहर नहीं है बल्कि वे हार्दिक भाव हैं, जिनके उद्गम और लयका केन्द्र हमारा मन ही है एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के सुख के लिये विकट संकट झेलता और अनेक दुःखों का सामना करता है; परन्तु वह उन्हें दुःख नहीं समझता। इन दोनों व्यक्तियों के मन उच्च और उदार भावों से अर्थात् अगाध प्रेम और देशभक्ति से परिपूर्ण होते हैं। इस कारण जो दूसरों को दुःख मालूम होता है वह उन्हें नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि, सुख दुःख कोई स्वयं सत्ता रखने वाले पदार्थ नहीं हैं, बल्कि हमारे मन के भाव हैं, और भावों का अच्छा बुरा होना हमारे अधिकार के अन्तर्गत है। हम अपने इस अधिकार को बहुत कम काम में लाते हैं। यदि यथोचित रीति से हम अपनी शक्ति को काम में लावें तो हम दुःख के भावों का प्रवेश मन में रोक सकते हैं, और सुख की मात्रा चाहे जितनी अधिक कर सकते हैं। अपने आत्म-बल के प्रभाव को नहीं जानते हुए हम अनेक दुःखों के कारण बन जाते हैं और यह समझने लगते हैं कि ये दुःख कहीं बाहर से आये हैं और उनका रोकना अथवा दूर करना हमारी शक्ति से बाहर है।

चित्त की वृत्तियों को रोकना योगशास्त्र का पहला उद्देश्य है, और इसका फल पूर्ण आनन्द-प्राप्ति है। श्रीकृष्ण भगवान ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि दुःख का कारण हमारा

चित्तवृत्तियों का प्रभाव ही है। इनको ज्ञानी अपने आत्म-बल से रोक सकता है। दुःख का उद्गम स्थान इन्द्रियों के विषयों पर ध्यान देना है। इन पर ध्यान देने से उनके साथ सङ्ग उत्पन्न हो जाता है, सङ्ग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध, और क्रोध से मोह। मोह स्मृतिविभ्रम का कारण है, जिससे बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नष्ट होने से सर्वनाश हो जाता है। जो मनुष्य आत्म-बल-द्वारा इन्द्रियों से राग द्वेष दूर करके उनके विषयों को भोगता है, वह शान्ति को प्राप्त करता है। इस शान्ति में सब दुःखों का नाश है। इसे प्राप्त करने वाला प्रसन्न चित्त होकर स्थिर-बुद्धि हो जाता है। यही भाव गीता के निम्न लिखित श्लोकों का है :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति-विभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि-नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
राग-द्वेष-वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

वास्तव में सब दुःखों का कारण हमारी चित्तवृत्तियों का नहीं रोकना है। यदि पूर्ण ज्ञानकी दृष्टि से देखा जाय तो हमारी आत्मा अव्यय अनन्त और शुद्ध विज्ञानविग्रह है। उसे सुख दुःख कुछ नहीं होता है। हमारा चित्त पिशाच के सदृश भ्रमण करता रहता है। यदि हम राग द्वेष को त्याग कर आत्मा की अचिन्त्यता को देखने लगें, तो हमें परम सुख की प्राप्ति हो जायगी।

अत्रैवात्माव्ययोऽनन्तः शुद्ध-विज्ञान-विग्रहः

सुखं दुःखं न जानाति तस्मिन् कदापि वर्तते ॥

अतो चित्तं चलं भ्रान्तं यथा ह्यपि पिशाचवत् ।

अजितं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव ॥

लाला गुलाब राय, एम. ए. एल-एल. बी. की *फिर निराशा क्यों ?* नामक प्रस्तुत पुस्तक उच्च दार्शनिक और नैतिक विचारों से परिपूर्ण है। लाला साहब एक उद्भट दार्शनिक विद्वान् हैं। इनकी प्रस्तुत पुस्तक के विचार पूर्वोक्त संसार-विषयक दो सम्मतियों में पहली से नहीं मिलते हैं, बल्कि दूसरी से और उन वाक्यों से जो उस पर व्याख्यानरूप से कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इन विचारों के अनुसार संसार एक नितान्त दुःखागार नहीं है, बल्कि उसमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक है और सुख दुःख की स्थिति वाला संसार

में नहीं है, किन्तु हमारे मन के भीतर है। यह हमारे अधिकार में है कि हम दुःख की मात्रा हटा कर सुख एवं आनन्द की वृद्धि करें।

इस जगह पुस्तक की विशेषता यह है कि इसके लेखक महाशय ने मनुष्य की अपूर्णता को उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकाश का साधक माना है। इस दृष्टि से अपूर्णता और अनंतता पूर्णता का पर्य्याय बन जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य की दीन हीन दशा निराशा का विषय नहीं रहती। यह वर्तमान दशा मनुष्य की अन्तिम दशा नहीं। मनुष्य ब्रह्म का अंश होने के कारण अपनी वर्तमान दशा को प्रतीत करता जा रहा है। जब तक मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति को नहीं समझता तभी तक वह नैराश्य के सागर में गोता खाता रहता है। ग्रन्थकार ने मनुष्यजाति की उच्च स्थिति को बतला कर अपने पाठकों के हृदय में आशा के बीज बोए हैं। यह आशा केवल संसारिक और सामाजिक विषयों के प्रति नहीं है। मनुष्य की बुद्धि को प्रधानता देकर आध्यात्मिक विषयों की बहुत सी उलझनों के सुलझ जाने की भी आशा दिलाई गयी है।

लाला साहब की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली ही है। हिन्दी-साहित्य में इस प्रकार के बहुत कम ग्रन्थ है,-बल्कि यह कहना कि उनका एक तरह से अभाव है, अत्युक्ति नहीं है। लाला

साहब ने इस पुस्तक को लिख कर हिन्दी-साहित्य-भण्डार की वृद्धि ही नहीं की है, वरन्, संसार का बड़ा उपकार किया है, जिसके लिये हम सभी उनके कृतज्ञ हैं।

जो पुस्तक निरुत्साह, हताश और पुरुषार्थ-हीन मनुष्यों के हृदय में आत्मगौरव-ज्ञान की जागृति कर जो उनके शिथिल शरीरों में नवीन-जीवन-शक्ति का सञ्चार कर, जो निराशित मनों में आशा की कली प्रस्फुटित करके मनुष्यों को पुरुषार्थ करने के लिये प्रोत्साहित कर, जो मनुष्यों को अपने कर्तव्य कार्यों में कटिबद्ध होने की उत्तेजना दे और अनिवार्य आपत्तियों तथा कठिनाइयों का प्रसन्नता पूर्वक सामना करने को उद्यत करे, जो मनुष्यों को दुःख और क्लेशों की तुच्छता बता कर उनके सुख और आनन्द की मात्रा की वृद्धि करे; वह पुस्तक निःसन्देह परमोपयोगी है, और उसके लेखक का परिश्रम सफल ही नहीं है बल्कि अति सराहनीय है। आशा है कि इस पुस्तक का सर्व-साधारण में, यथोचित आदर होगा, जिससे योग्य लेखक इस प्रकार के अन्य ग्रन्थ लिखने को प्रोत्साहित हों।

धौलपुर
१५—२—१९१८ | कन्नोमल, एम्, ए,

आशा



अहो देवि आशे ! प्रशंसा तिहारी,
सकै कह यथावत् न जिह्वा हमारी
महामण्डल, व्योम, पाताल माही,
कहाँ शक्ति न व्याप्त तेरी सदा ही



कलानाथ तेरी कृपादृष्टि पाई,
कला हीन हू नित्य देवै दिखाई।
ग्रहग्रस्त तेजोनिधी सूर्य्य, सोई,
प्रकाशै प्रभा को तवाधीन होई॥



बिना पैर के पंगु पाथोधि पारा,
क्षणैकार्द्ध में लाँघि ऊंचे पहारा।
जहां जी चहै, जाय, नाना प्रकारा,
विलोकै छटा, पाय तेरो सहारा॥



महा दुःख में, शोक में, रोग माहीं
विपत्काल में, कालहू में सदाहीं।

कहैं लोग आछे ! तुलना निहारी

गत प्राणवत् त्वद्विना प्राणधारी ॥

* * * *

तुही मोहिनी, तूहि मायाविनी है,

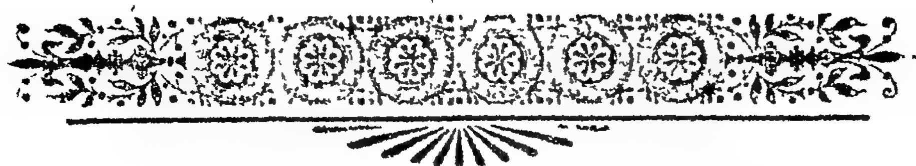
तिहूं लोक की तूहि सञ्जीवनी है ।

रहै तू न जो, विश्व-ज्ञान-प्रसारा

बनै दण्ड मैं दण्डकारण्य सारा ॥

—पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ।





लेखक का वक्तव्य

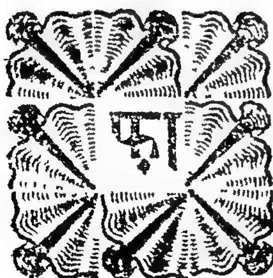


'नास्ति चात्मसमं बलम्'

Our first duty is not to hate ourselves ; because to advance we must have faith in ourselves first. and then in God. He who has no faith in himself can never have faith in God.

—Swami Vivekanund.





फ़ारसी भाषा में एक लोकोक्ति है कि "तसनीफ़रा मुसन्निफ़ नेको कुनद्ब्याँ" अर्थात् अपने लिखे हुए को लेखक ही भली भाँति बता सकता है। इसी कथन के आधार पर, ऐसे उत्तम प्राक्कथन के वर्तमान होते हुए भी काग़ज़ और स्याही की तेज़ी का विचार न कर, मैंने इस पुस्तक में एक और भूमिका जोड़ देने का साहस किया है।

यदि कोई संक्षेपता-प्रिय पाठक मुझ से एक शब्द में इस पुस्तक का सारांश पूछना चाहें तो मुझे उनके उत्तर में कहना पड़ेगा कि वह शब्द 'आत्मगौरव' है।

आत्मगौरव से पाठकगण शायद कुछ और न समझ जावें, इस कारण आत्मगौरव की थोड़ी सी व्याख्या कर देनी आवश्यक है। आत्मगौरव वृथाभिमान नहीं है और न यह ईश्वर से स्वाधीन होना ही है। अपनी शक्तियों और सम्भावनाओं को यथावत् जानकर अपने में विश्वास रखना ही आत्मगौरव है। आत्मगौरव ही पुरुषार्थ का मूल है और बिना पुरुषार्थ के किसी प्रकार की उन्नति की सम्भावना नहीं है।

नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

आत्मगौरव की इस स्थान पर विशेष व्याख्या करना उचित न होगा। भूमिका ही पुस्तक बन जायगी। और मुझे पुनरुक्ति और समय के वृथा व्यय के लिये कोई बहाना भी न मिलेगा किन्तु दो एक सम्भावित आक्षेपों का उत्तर देना बहुत से झगड़ों को बचा देगा और पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय पर भी एक नयी झलक पड़ जायगी।

इस पुस्तक को पढ़कर कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि आत्मबल और पुरुषार्थ की डींग मारने से क्या होता है। कितने ही प्रयत्न निष्फल होते हैं और कितनी ही आशाओं पर पानी पड़

जाता है। फिर मनुष्य का गौरव कहाँ ? ठीक है ! किन्तु हमारा यह तो कहना नहीं कि मनुष्य सब कुछ कर ही सकता है। मनुष्य प्राकृतिक नियमों को नहीं बदल सकता। जो प्रकृति के नियम हैं वे अटल हैं। किन्तु उन नियमों को समझ कर मनुष्य उन से अधिक लाभ अवश्य उठा सकता है। प्रवाह के प्रतिकूल जाना कठिन है। किन्तु प्रवाह के बल के साथ अपने बल को लगा देने से मनुष्य अपने अभीष्ट को शीघ्र ही प्राप्त कर सकता है। मनुष्य प्रवाह से बाहर नहीं। प्रवाह की गति को क्षिप्र अथवा मंद बनाने में उसका भी हाथ है। यदि वह प्रवाह के प्रतिकूल चलेगा तो उसके बल का वृथा क्षय होगा और प्रवाह की भी गति किसी न किसी अंश में अवरुद्ध हो जावेगी। यदि वह अनुकूल चलेगा तो उसकी भी शक्ति बढ़ेगी और प्रवाह की भी गति का वेग बढ़ जायगा। इसलिये मनुष्य को प्रवाह की गति का झुकाव भले प्रकार समझकर उसके वेग को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। ऐसा करने से उसकी सब आशा-लतायें हरी भरी हो जावेंगी और उसके मनोरथ फलवान होंगे। जो हमारी इच्छायें ईश्वर की इच्छा तथा प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होती हैं उनका पूरा होना किसी प्रकार से असम्भव नहीं। किन्तु उसमें भी प्रयत्न करने की शर्त लगी हुई है। प्रयत्न के विना कार्य्य की सिद्धि नहीं होती। निष्क्रिय लोग भी गति के अवरोधक होते हैं। वे लोग दूसरों की शक्ति का

वृथा व्यय कराते हैं। शुभ कामना और सत्सङ्कल्पों का होना अच्छा है। किन्तु प्रयत्न के विना वह सब निष्फल हैं। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह शुभ कामना वाला होवे और साथही साथ पुरुषार्थी भी बने।

शायद कुछ लोगों का यह भी कहना होगा कि इस पुस्तक में मनुष्यजाति का गौरव बताते हुए मनुष्य की कमज़ोरियों की भी बड़ाई की गयी है। इससे लोगों को पाप में प्रवृत्त होने के लिये और भी उत्तेजना मिलेगी। मेरा कदापि यह अभिप्राय नहीं कि, लोग देख भालकर भी खाई में गिरें और न मैं सच्चे साधुवृत्ति लोगों के पुण्य-चरित्रों का तिरस्कार कर पापियों के निन्दनीय कर्मों का आदर करना चाहता हूँ। किन्तु यह अवश्य मानता हूँ कि जो लोग गिरे हुए हैं उनको सहायता देना, उनसे घृणा न करना, और उनके साथ रहकर उनको उठाना मनुष्य का कर्तव्य है। इसके साथ ही साथ जो लोग पाप से बचे हुए हैं उनको इस बात पर अभिमान नहीं करना चाहिये कि वह पापी नहीं। अभिमान करना ही स्वयं एक पाप है। जो लोग अभिमान करते हैं वे लोग पाप से खाली नहीं हैं ऐसे अभिमानी लोग दूसरे को निरुत्साह कर देते हैं और उस गिरे हुए मनुष्य के न उठने का कारण बन जाते हैं। स्वयं ही पापियों के दल में मिलकर दलदल में फँस जाते हैं। ऐसे लोगों की अपेक्षा पापी ही भले हैं, जो अभिमानी

नहीं करते। उनके पास बैठकर सदुत्साह की तरङ्गें उठने लगती हैं। मनुष्य को न तो विषयों में ऐसा लिप्त होना चाहिये कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य को सुध भूल जावे और न ऐसा कर्त्तव्यपरायण ही बनना चाहिये कि सारे संसार को सिर पर उठा रक्खे और लोगों का कर्त्तव्य से दिल फेर दे। जो कुछ संसार में है उससे किसी प्रकार की इच्छा न रखते हुए, उसी की शोभा में आनन्दित हो ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनी उचित है और जहाँ तक हो सके श्रेय को ही प्रेय बनाने का यत्न करना चाहिये।

कहीं २ पर यह भी कहा जायगा कि प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाव इस देश के नहीं। इस देश के लोग संसार को दुःखमय मानते आते हैं और संसार को सुखमय समझना अपने जातीय भावों के प्रतिकूल जाना है। ऐसा कहना अपने पूर्वजों का तिरस्कार करना है और उनके लिये कृतघ्नता दिखाना है। हमारे देश की रीतिरिवाज और आचार-व्यवहारों में ही हमारे जातीय भावों के तन्तु छिपे हुए हैं। न हमारे यहाँ शैतान ही को मानते हैं कि जो मनुष्य को सदा पाप की ओर घसीटता रहता है और न शोक-सूचक त्यौहार ही है। फिर हिन्दू जाति के लोगों को सर्व-दुःखवादी (Pessimist) कहना भूल है। और देखिये, हमारे देश के लोग दुःखान्त नाटक तक को नहीं पसन्द करते थे। हमारे यहाँ के नाट्यशास्त्र का एक सुविख्यात नियम है कि सब नाटक

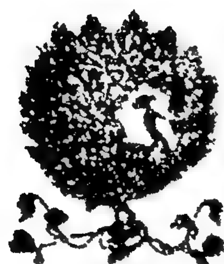
सुखान्त होना चाहिये। फिर यह सब नाटकों का सूत्रधार संसार-नाटक किस प्रकार दुःखान्त हो सकता है? लोग कहते हैं कि हमारे देश के लोग भाग्य अथवा अदृष्ट के मानने वाले हैं। माना कि यह भी ठीक है। तो क्या भाग्य के मानने वालों को पुरुषार्थ-हीन होना चाहिये। सच्चे भाग्य के माननेवाले लोग भी दुःख को दुःख नहीं समझते। उसको वह कर्मगति अथवा हरि की इच्छा कह देते हैं। हरि की इच्छा क्या हमारे अनहित के लिये हो सकती है? भाग्य का मानने वाला पुरुष भी आशा से खाली नहीं। वह जानता है कि मेरा पिछला भाग्य भी मेरे कर्मों का फल है और उसको भव्य बनाने के लिये शुभ कार्य करना चाहिये। भाग्य को मानते हुए भी हमारे लिये निराशा करना वृथा है। असफलता कभी अवश्य होती है। उससे निरुत्साह न होना चाहिये। वरन्, हमको यह विचार करना चाहिये कि जिन मनुष्य में ऐसी शुभ कामनायें, उच्च आशायें और विशाल मनोरथ उत्पन्न हो सकते हैं वह पददलित होने के लिये नहीं। उसकी उच्च आशायें, उसकी उच्च प्रकृति की सूचक हैं और वह अवश्य अपनी प्रकृति के अनुकूल उच्च पद को प्राप्त होगा।

इस पुस्तक में कुछ तत्वज्ञान-सम्बन्धी विचार भी हैं उनका, यहाँ पर, समर्थन करने में भूमिका का आकार पुस्तक के परिमाण से भी बढ़ जायगा। फिर पाठक स्वयं ही अपने स्वतन्त्र विचार

द्वारा इन सिद्धान्तों का खण्डन मण्डन कर लेंगे। मैं विवेक-पूर्ण पाठकों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालना चाहता। इस स्वतन्त्रता के कारण शायद मेरा भी कुछ लाभ हो जायगा। इसी आशा से मैं इस पुस्तक को अपने पाठकों के हाथ में सौंपता हूँ

मैनपुरी
चैत्र. शु. १. १९७५

गुलाब राय



फिर निराशा क्यों ?

"It is better to be a dissatisfied Socrates than to be a satisfied pig."

"जिन ढूंढा तिन पाइयौ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ॥"

— कबीर

"If water chokes what shall we drink ?"



ग कहते हैं 'समझने वाले की मौत है'। हाँ, सच है। जो आँखें बन्द किये बैठे रहते हैं, उनके चित्त में घृणोत्पादक दृश्य ग्लानि पैदा नहीं करते, किन्तु जो लोग देखते हैं, उन्हें हर्ष होता है और विषाद भी। जो लोग घृणित पदार्थों के लिये नेत्र मूंदे बैठे हुए हैं वे लोग मनोरम दृश्यों के दर्शन-लाभ से भी वञ्चित हैं।

कविगण संसार: की विचित्रता से चकित हो, कहने लग जाते हैं कि "न जाने संसार: किममृतमयः किंविषमयः" किन्तु जो लोग विष से भागते हैं उन को अमृत के दर्शन भी नहीं होते।

शिवजी ने कालकूट विष पिया तो उन्हीं के मस्तक को पुण्य-पियूष-स्रावी सुधांशु ने विभूषित कर उनको चन्द्रशेखर की पदवी दी। यह तो रहा विष से न भागने और कठिनाई सहने की बात। जीवन-संग्राम में बहुत से लोग कायरता कर जाते हैं। जो लोग जीवन-संग्राम से भागते हैं वे लोग विजय के सुख से भी वञ्चित रहते हैं। जीवन-संग्राम की बात तो दूर रही, बहुत से लोग विचार संग्राम में भी आगे नहीं बढ़ते। यह ठीक है कि, युद्ध की वार्ता दूर से ही अच्छी लगती है। किन्तु जो लोग युद्ध में पड़ते हैं वे लोग युद्ध की कठिनाई के साथ साथ युद्ध का सुख भी अनुभव करते हैं।

जानने में दुःख है और सुख भी। बाबा आदमने ज्ञान का फल खाया। यही उनके पतन का कारण हुआ; किन्तु यही उनके उत्थान का भी कारण है। अगर वे बुराई भलाई न जानते तो वे अपने पैर तले की मिट्टी के समान ही बने रहते। यह सब ठीक है। जानने से जो मानसिक वेदना होती है सो जानने वाले ही जानते हैं।

'जाके पांव न फटी बिवाई। सो क्या जाने पीर पराई।'

विचार करते ही संशय के भँवर में गोते खाने पड़ते हैं; निकलना कठिन हो जाता है, चारो ओर हाथ-पैर पीटते २ हाथ और पैर थक जाते हैं, हाँपते २ साँस फूल जाती है—दम घुट जाता है, अङ्ग प्रत्यङ्ग एकदम शिथिल हो जाते हैं। किन्तु इतने पर भी डूब जाने के डर से हाथ-पैर पीटना बन्द नहीं होता।

'जब तक साँस तब तक आस' ।

यदि कहीं इस भँवर से निकलने में सफलता भी मिल गई—किनारे पर भी आ पहुँचे, । तो भी क्या ? आगे का मार्ग तो दुर्गम है। कहीं थके माँदे मनुष्य ने इस पंका-कुल विकट पथ पर दो चार क़दम भी रक्खे तो दलदल में फंस गया। यदि दलदल में से निकले तोभी आपत्तियों का अन्त न हुआ। किंई यथांवहुलोमयंति, आगे बढ़े तो अज्ञान की कठोर भित्ति से सिर टकराया। उसके सामने आकर नैराश्य और असहायता में सहारा लेना पड़ता है। फिर नाना प्रकार की अनर्गल और असोच कल्पनाएं कर मन का सन्तोष करना होता है।

कोई २ तो ऐसी दुर्दशा देखकर कहते हैं भाई ! यहाँ न आते तो अच्छे रहते। विचार-तरंगिणी में तैर कर क्या लाभ उठाया—उलटी हानि ही हुई। अब हम को अपनी पूर्वस्थिति पर भी पहुँचना कठिन है। नदी के उस पार ही भला हुए थे। अज्ञान की बराबर कहीं आनन्द नहीं।

कोई यह कहने लगते हैं—नहीं, नहीं, अच्छा हुआ जो यहाँ तक आये। यह तो जान लिया कि सूची-भेद्य प्रगाढ़-अन्धकार के अतिरिक्त आगे कुछ भी नहीं। जो कुछ है सो विचार के इसी पार। आगे तो शून्य ही शून्य है। जितना जाना वही सत्—बाकी सब असत् है।

कुछ ऐसे भी हैं जो यह कहते हैं—भाई! ठीक है, तैरने में कष्ट अवश्य हुआ, किन्तु इस से हमारे अवयव पुष्ट ही हो गये। हमारी शक्ति बढ़ गई। कदाचित् फिर भँवर में पड़ जावें तो अब डूबेंगे नहीं। अच्छा हुआ जो स्वयं ही जल में घुस पड़े। शायद बढ़ता हुआ जल हम को हमारे स्थान से गिरा देता। तब तो अपने को सँभालना ही कठिन हो जाता। यहाँ तक आकर हम यह न मानेंगे कि आगे कुछ है ही नहीं। जो कुछ द्रष्टव्य है सो सब दीवार के उसही पार है। और न यही कहेंगे कि इस पार तो केवल धोखा ही धोखा है। यह आलोकित भाग कुछ नहीं।

कोई कहते हैं—हाँ, बात तो ठीक है किन्तु दीवार अभेद्य है। उसकी दूसरी ओर कुछ है अवश्य। वही सत्य भी है, किन्तु यह नहीं मालूम कि वह क्या है और कैसा है। हमारे पास कोई अन्धकारभेदी एक्सरेज़ (X Rays.) नहीं जो अज्ञान की दीवार को भेदकर पार कर सकें और जिन के द्वारा हम उस पार की वस्तु देख सकें। और फिर सच तो यह है कि देखते तो हम अपनी बुद्धि के चश्मे से ही फिर और कुछ जानने योग्य नहीं है अथवा हमारा ज्ञान सत्य ही कैसे हो सकता है? एक्सरेज़ के होने ही से क्या लाभ।

संशय के भँवर में पड़ने ही के भय से मानसी गङ्गा के पुण्यसलील में स्नान न करना कायरता है। यही नहीं, वरन्

अपने नैसर्गिक अधिकारों को खो बैठना है—भीषण आत्म-हत्या है।

"मैं कुछ नहीं जानता"—केवल इतना ही जानलेने के कारण शुकरात जानकारों में श्रेष्ठ गिना गया। यह ठीक है, किन्तु इस से यह नहीं सिद्ध होता कि और कुछ जानने योग्य नहीं है अथवा दीवार के आगे कुछ भी नहीं। इससे केवल यही सिद्ध होता है कि 'खोज करनी चाहिये'। पुनः यह कि जिन बातों को हमठीक समझते हैं उनपर बिना विचार किये हमको उन्हें निश्चित विचार कहने का कोई अधिकार नहीं।

यह किस प्रकार हो सकता है कि, दीवार के आगे कुछ नहीं है जो स्थान देखा नहीं उसके लिये इसका प्रमाण ही क्या है कि वहाँ पर कुछ भी नहीं। फिर सत्ता की सीमा बाँधने का अधिकार किसको है ?

यह भी कहना युक्तिसङ्गत नहीं कि जो कुछ है सो दीवार के उस पार ही है। इस ओर की सभी बातें भ्रममूलक हैं। क्या हम और हमारे विचार सत्ता की सीमा से बाहर हैं। यदि ऐसा है तो यह कहना होगा कि सत्ता के बाहर भी कोई ऐसी वस्तु है जो सत्य है, नहीं तो हमें अपने विचार असत्य मानने पड़ेंगे। फिर न तो वह सच ही रहेंगे न झूठ ही। मूल के नाश होने पर वृक्ष, पत्र और फल सभी का नाश हो जाता है।

इसका भी क्या प्रमाण है कि 'हमारी बुद्धि का चश्मा ठीक नहीं। बुद्धि को चश्मा कहना उसको जान बूझ कर दूषित ठहराना है। बुद्धि चश्मा नहीं—मान-सिक नेत्र है। यदि नेत्र का काम देखने का नहीं तो फिर वह नेत्र ही नहीं। और फिर उसके अस्तित्व से ही क्या ? यदि हमारी बुद्धि-द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रमात्मक है तो हम को अपने ज्ञान को भ्रममूलक ठहराने ही का क्या अधिकार ? क्या हमारा एवं भूतज्ञान निर्दोष ही रहेगा ?

सत्ता के महासागर से कुछ भी बाहर नहीं। हमारी बुद्धि भी दूषित नहीं। हम अपनी परिमितता के कारण सब न देख सकें, किन्तु जो कुछ हम देखते हैं मिथ्या नहीं। क्या भाग पूर्ण से भिन्न है ? एक चुल्लू भर जल से सारे सागर की जल-राशि की परीक्षा की जाती है।

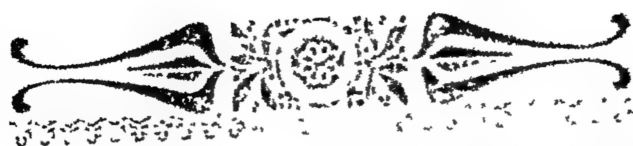
वास्तव में जिस को हम दीवार कहते हैं वह हमारे थके हुए मन की भ्रान्ति है। आगे न चलने की इच्छा ने यह दीवार अपने सुभीते के लिये खड़ी कर ली है।

दृश्य पदार्थ को छोड़कर वास्तविक सत्ता का क्या और कोई रूप है ? वास्तविक सत्ता कोई नवोढ़ा स्त्री की भाँती नहीं, जो अपना दिव्य मुख सदा भ्रमरूप दृश्यों के सघन अवगुण्ठन में छिपाये रखना चाहती हो। वह अपना मुख छिपाये तो किस से ?। क्या उससे कोई बाहर है ?। उसका द्युतिमान आनन्द

सदा चन्द्र और सूर्य की अलौकिक प्रभा में दिखाई पड़ता रहता है हाँ, यदि मान भी लिया कि सब कुछ भ्रम ही भ्रम है, फिर भ्रम से लाभ ही क्या ? थोड़ा जानकर बहुत जानना सम्भव है। किन्तु भ्रम में पड़कर निकलना कठिन है। यदि वास्तविक सत्ता अज्ञेय है तो उसके बिना जाने हुए अपने को भ्रम में बताने के लिये क्या प्रमाण और ऐसे भ्रम की दशा में प्रमाणों की सत्यता का ही क्या प्रमाण ? हमारा ज्ञान परिमित हो पर भ्रममूलक नहीं। निराशा-निर्मित दीवार भी निश्चल और अभेद्य नहीं। ज्ञान की सीमा दिन-रात बढ़ती रहती है। आलोक की वृद्धि हो और अन्धकार का ह्रास न हो ? 'सूर परकासा, तहँ रैन कहाँ पाइये' ज्ञान बढ़े और अविद्या न जावे ?

फिर निराशा क्यों ?





मनुष्य की मुख्यता

"ज्ञानं नराणामधिको विशेषः"

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

"नरसमान नहिं कवनिहुँ देहा।
सुर नर मुनि सब याचत एहा॥"—तुलसी

" The essence of our being, the mystery in us that calls itself " I ",--ah, what words have we for such things ?-is a breath of Heaven ; the Highest Being reveals himself in man ."

—' Carlyle. '

ॐ ॐ ॐ

"मनुष्य ही प्रकृति का राजा है"



ह वाक्य मनुष्यों का ही है—इसकी सत्यता का प्रमाण क्या है ? क्या यह अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना नहीं ? हाँ, यह आत्म-प्रशंसा ही मनुष्य का प्रधान गुण है। इसी के कारण उसको यह राज्याधिकार

प्राप्त हुआ है। अपने ऊपर विचार कर लेना यह थोड़ा गुण नहीं। आत्मश्लाघा में आत्मविचार की शक्ति छिपी हुई है। आत्मविचार ही 'मनुष्य की मुख्यता' है। यही उसको संसार का शिरोमणि बनाता है।

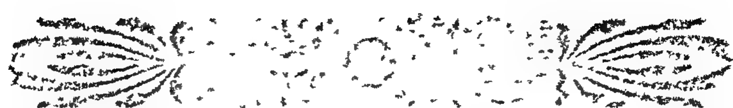
अपने ऊपर विचार करना और सारे संसार को भी अपने विचार में उलट पलट डालना बड़ा भारी गुण है सही, किन्तु मनुष्य के विचारों की सत्यता का क्या प्रमाण। क्या मनुष्य के अतिरिक्त और कोई जीवधारी उसके कथन की साक्षी भरता है ? क्या साक्ष्य का न होना दोष नहीं ?

साक्ष्य का न होना मनुष्य के कथन के गौरव को बढ़ाता ही है। साक्ष्य का न होना मनुष्य की श्रेष्ठता का बड़ा भारी साक्षी है। मनुष्य के कथन को प्रमाणित करने के लिए और किसी गवाह की ज़रूरत नहीं। ईश्वर भी अपनी आज्ञाओं को मनुष्य ही के द्वारा प्रकाशित करना चाहता है। मनुष्य ही में ईश्वर की आज्ञा ग्रहण करने की शक्ति है और वही अपने ऊपर शासन कर सकता है। शुद्ध प्रशान्त-चित्त कवियों और स्थितप्रज्ञ महात्माओं की वाणी में ईश्वर के ही ज्ञान की झलक होती है। मनुष्य को जो स्फूर्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है वह ईश्वर के निरपेक्ष एवं निर्विकल्प ज्ञानका ही अंश है। मनुष्य की स्फूर्ति ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाशित होने की माध्यम है। फिर हम ऐसे महत्व की वस्तु का क्यों तिरस्कार करें।

मनुष्य ही द्वारा सारी सृष्टि मूक से वचाल होती है। मनुष्य ही सारी सृष्टि का मुख है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" क्या ब्राह्मण मनुष्य में से नहीं? सारी चराचर सत्ता मनुष्य को अपना मुख बना कर आत्मकथा कहती है। आत्म-कहानी कहने के लिये दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं। जब डाक्टर पूछता है कि आपके पैर में दर्द कैसा है तब पैर का दर्द बतलाने के लिये मुख ही बोलता है। पैर अपना हाल नहीं कहता। हाथ भी मुख की गवाही देने को नहीं आता।

क्या मनुष्य भूल नहीं करता? क्या मनुष्य पाप से बचा हुआ है? नहीं। मनुष्य भूल अवश्य करता है। किन्तु उसकी भूल भी मतलब से खाली नहीं। भूल ही उसके ज्ञान का मूल है। भूल ही द्वार छिपी हुई सम्भावनाएँ प्रकाशित होती हैं। भूल का संशोधन होने पर सम्भव निश्चय हो जाता है। कल्पना सिद्धान्त की कोटि में आ जाती है। मनुष्य पाप कर सकता है—यही उसकी मुख्यता है, नहीं तो, मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या? यदि पाप करने की सम्भावना नहीं तो सत्कार्य्य करने में भी कोई महत्व नहीं। हमारे दोष भी हमारे गौरव के कारण हैं।

फिर निराशा क्यों?

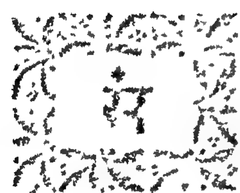


सत्ता-सागर

"जैसा यह जग बना हुआ है वैसा इसको पहचानो
ईश्वर की व्यापकता इसके सभी ओर प्यारे जानो।
चलोगे सबके बल से जो तुम निर्मित नियमों के अनुसार।
तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत समझ सार" ॥

— "श्रीधर पाठक"

* * *


सार के स्वामी महासागर, जिस की एक छोटी सी लहर है, उसी सत्ता-सागर के हम भी एक बुदबुद हैं। हम उस सागर के न भीतर हैं और न बाहर। उसी महासागर के जलकण हैं। जल-बिन्दु जलधि से भिन्न नहीं और सिंधु भी बिन्दु से भिन्न नहीं। बिन्दुओं को छोड़ कर भला सागर कहां?

समस्त दृश्यमान जगत, चराचर सृष्टि, भिन्न २ रुचिवाले मनुष्य, नाना भाँति के पशु-पक्षी, वन की लहलहाती छोटी

लतिकाएँ 'रंग विरंगे फूल' निर्मल जल के मनोहर झरने, लहराती हुई सुन्दर नदी, स्वच्छ सलिल से सम्पूर्ण झील, ऊँचे ऊँचे गगनचुम्बी शैल-शिखर, घने और बीहड़ जङ्गलों से आच्छादित पर्वत, सघन श्याम सुहावने मेघ तथा अनन्त, शान्त और मनोज्ञ-नीलाकाश सबके सब एक ही महती सत्ता के अंग प्रत्यंग हैं।

चेतन-संसार अचेतन के ऊपर निर्भर है और अचेतन चेतन के ऊपर। किन्तु दोनों ही एक ही सत्ता के अङ्ग हैं। और वह सत्ता इनसे भिन्न नहीं अथवा न अचेतन चेतन ही से भिन्न है। क्या अचेतन-संसार, जिसकी गोद में चेतन संसार पाला पोसा गया और हृष्ट-पुष्ट हुआ, चेतन से भिन्न हो सकता है ?।

चेतन और अचेतन एक दूसरे के सहायक हैं। यही उनकी एकता का मूल है। इनको प्रतिकूल कहना भूल है। दो प्रतिकूल पदार्थों में भला सहकारिता कैसी ?।

जड़ न तो चेतन का कर्त्ता है और न चेतन जड़ का। दोनों एक दूसरे के रूपान्तर हैं। चेतन ने जब मौन व्रत धारण किया तब वह जड़ हो गया और जब जड़ बोलने लगा तब फिर वही चेतनता को प्राप्त हो गया। जड़ चेतन में कुछ भेद नहीं था, भेद केवल धर्म का ही है। धर्म भी ऐसे नहीं जो एक दूसरे के प्रतिकूल हों। सहयोगिता ही उनकी लक्षण है। वे एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। स्त्री-पुरूष की भाँति एक दूसरे के (परस्पर)

सहायक हैं। दो होते हुए भी एक हैं। दोनों ही मिल कर सत्ता को पूर्णाङ्ग बनाते हैं।

इस सत्ता-सागर में मनुष्य की क्या स्थिति है ? मनुष्य ही द्वारा जड़ और चेतन की पूरी सहकारिता प्रकटित होती है। ब्रह्माण्ड में पिण्ड का प्रतिबिम्ब है। मनुष्य ही सत्ता-सागर का छोटा सा चित्र है।

मनुष्य क्या इस सत्ता का अंतिम फल है ? क्या इससे बढ़ कर कुछ और नहीं ? वह महान पुरुष देवों का देव है, जिसकी तेज से फल और वृक्ष दोनों ही पुष्टि को प्राप्त हो रहे हैं—दोनों ही जिस के अङ्ग हैं, इस सत्ता का संचालक और बुद्धिबल है। उसी के बुद्धिबल के सहारे हमारा भी बुद्धिबल काम चलता है। हम उसी से अपना आदर्श पाते हैं। पूर्ण की सत्ता के कारण अपूर्ण के पूर्ण होने की आशा है। नहीं तो अपूर्ण में पूर्ण का भाव कहाँ से आया ?।

मनुष्य में जड़ और चेतन की एकता है। वह अपूर्ण तो है अतः पूर्णता की ओर दौड़ रहा है। उसी में पूर्णता की झलक मिलती है। उसी के अस्तित्व से जड़ की जड़ता और चेतन की चेतनता का आभास होता है। मनुष्य के ज्ञान से ही इस बात का अनुमान होता है कि यह विचित्र संसार प्रत्यक्ष मात्र से सीमा-बद्ध नहीं। वरन् इसके आगे भी कुछ है।

मनुष्य की आशायें और उच्च आदर्श उसको परिमित की ओर से अपरिमित की ओर मोड़ ले जाते हैं। इन्हीं के द्वारा हमको दीवार के उस पार की झलक मिलती है।

यदि हम पीछे की ओर देखते हैं तो सहस्रों वर्ष की सञ्चित सम्पत्ति हमारे लिये रक्खी हुई है; केवल उठा लेने भर की देर है। यदि आगे की ओर दृष्टि डालते हैं तो अनेकानेक सम्भावनाएँ हमारे लिये विद्यमान हैं। अपने शरीर-द्वारा सारे जड़ जगत से हमारा सम्बन्ध है। हमारे ज्ञान और आदर्शों द्वारा पूर्ण अखंड परमात्मा से हमारा योग है। इस संसार में हमारी स्थिति अपूर्व है। समूची चराचर सृष्टि में सर्वापेक्षा पूज्यतम जो पदार्थ है उससे हमारा सम्बन्ध है।

फिर निराशा क्यों ?



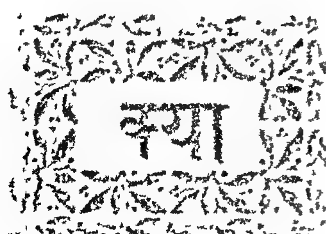
समष्टि व्यष्टि ।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।

— श्रीमद्भगवद्-गीता

Kabir says :—' As you never may find the forest if you ignore the tree so He may never be found in abstractions.'

Kabir's Poems, translated by
—Sir Rabindra Nath Tagore.



मैं और यह साक्षात् दृष्टिगोचर संसार एक ही हैं ? । क्या मैं और मेरा पड़ोसी दो व्यक्ति नहीं ? उसका धन मेरे लिये वर्जित है और मेरा धन भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता मेरे विचार और उसके विचारों में भेद है हम दोनों

का अनुभव एक नहीं हो सकता। क्या फिर भी हम और वह एक है ?

हम और यह दृश्यमान जगत एक नहीं हो सकते। क्यों ? क्या इस संसार में हमारा पालन पोषण नहीं हुआ ?। क्या इस संसार की पृथ्वी से उत्पन्न अन्न हमारे शरीर को पुष्ट नहीं बनाता ?। हम केवल शरीरी नहीं—हम ज्ञान स्वरूप हैं। बिना ज्ञेय के ज्ञान ही किस प्रकार हो सकता है। भला बिना कार्य के कर्ता कहाँ ?।

समूचे संसार की बात जाने दीजिये। हम और हमारे पड़ोसी एक नहीं हो सकते। हमारे शरीर और हमारे विचार भिन्न २ हैं

क्या मेरा व्यक्तित्व मेरे शरीर ही में है ?। नहीं, मेरा शरीर पञ्चभूतों से पृथक् नहीं। क्या मेरा शरीर मेरे माता पिता के रजोवीर्य्य से उत्पन्न नहीं हुआ ?। उनका भी शरीर आकाश से नहीं आता। उसकी भी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। इस शृङ्खला में पड़कर मेरे शरीर का व्यक्तित्व कहाँ रहा। मेरे पड़ोसी के भी शरीर का व्यक्तित्व कहाँ ?। क्या पीछे हटते २ हम दोनों के शरीर एक ही मूल-शृङ्खला में बद्ध न हो जावेंगे ?। क्या कोई आदि पुरुष हमारे शरीर को उत्पन्न करने वाला नहीं ?।

क्या हमारे विचारों की भिन्नता हमारे पार्थक्य का कारण है क्या हमारे विचारों का एक कोई मूल कारण नहीं ?। क्या मेरे

विचार मेरे ही हैं ?। क्या मैंने अपने विचारों को अपने स्वभाव से नहीं पाया है ?। क्या हमें और हमारे पड़ोसियों को एक ही प्रकृति की पाठशाला में शिक्षा नहीं मिली है ?। क्या हमारी और हमारे पड़ोसी की भाषा एक नहीं ? यदि हम दोनों मनुष्य-समाज से बाहर अलग २ रख दिये जाते तो हमारे विचार कहाँ से आते ?।

फिर क्या भेद की स्थिति संसार में नहीं ?। भेद क्या भ्रम है ?। नहीं। यदि भेद भ्रम है तो यह संसार नीरस है। ऐसा कहने से इसकी स्थिति ही असम्भव हो जायगी। भेद के बिना एकता ही भ्रम है। भेद नहीं तो भला एकता का ज्ञान किस प्रकार होना सम्भव है।

भेद ही द्वारा ब्रह्म भी अपनी वास्तविक सत्ता को प्रकट करता है। 'एकोऽहम्' बहुस्यामि। यही नियम सारी सृष्टि में वर्तमान है। एक के अनेक और अनेक होकर भी एक होना यही उन्नति का मूलमंत्र है।

भला, एक की अनेकता किस प्रकार ? और अनेक होकर भी उनकी एकता कहाँ ? सारी सृष्टि का क्रम एक की अनेकता ही से चलता रहता है। 'एकोऽहम् बहुस्यामि' यह संकल्प प्रतिक्षण दुहराया जाता है। विचार में पार्थक्य होना कठिन नहीं। पार्थक्य कहीं बाहर से नहीं आता। क्या स्वप्न में एक ही व्यक्ति नाना,

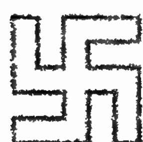
ज्ञान और ज्ञेय में विभक्त नहीं हो जाता ? क्या मेरे दो अहंकार नहीं हो जाते ?

अहंकार ही भेद का मूल है। किन्तु यह मुझ से बाहर नहीं। इसी भेद के कारण ज्ञान और विचारों में भी भेद हो जाता है। इस भेद का अन्त नहीं। शाखा प्रशाखाएँ बढ़ती जाती हैं। विभागों के भी विभाग होते जाते हैं, किन्तु प्रत्येक विभाग में पूर्णता की झलक बनी रहती है। इसी में भागों की एकता की आशा है। भाग जब तक अपने आप को पूर्ण के साथ सम्बन्ध में नहीं देखता तब ही तक भाग है—यही तो माया है। परिमितता ही को माया कहते हैं। भाग जब अपने आप को पूर्ण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध देख लेता है तब सम्पूर्ण हो जाता है। यह सम्बन्ध क्रिया ही में प्रत्यक्ष होता है। पूर्ण का भाग भी पूर्ण होता है।

भेद और अहङ्कार संसार की स्थिति के लिये आवश्यक है। भेद ही संसार को सरस बनाता है। भेद से क्रिया की उत्पत्ति होती है। क्रिया में भेद की वृद्धि और क्षय दोनों ही के मूल हैं। अहङ्कार जब भेद की यथोचित सीमा का उल्लंघन कर जाता है तभी निन्द-नीय कहलाता है। अहङ्कार रखते हुए भी हम अपने को पूर्ण के सम्बन्ध में देख सकते हैं। व्यक्ति होते हुए भी हम और और व्यक्तियों से मेल कर सकते हैं—यही व्यक्ति और समष्टि की एकता है, यही बिन्दु का समुद्र हो जाना है। हम अपने

व्यक्तित्व को रखते हुए भी एक महान व्यक्ति के व्यक्तित्व में सम्मिलित रह सकते हमारे रुधिर के कीटाणु पृथक् २ होते हुए भी हमारे शरीर के व्यक्तित्व में एक हो जाते हैं। हमारे भिन्न २ विचार हमारे अहङ्कार के व्यक्तित्व के अन्तर्गत हैं। व्यष्टि रूप से भिन्न २ होते हुए भी समष्टिरूप से एक हैं। बिना समष्टि के व्यष्टि का अस्तित्व सम्भव नहीं और व्यष्टि से बाहर समष्टि कोई पदार्थ नहीं। समष्टि व्यष्टि के समूह से अधिक हो तो हो, किन्तु उससे भिन्न नहीं। वृक्ष वन से अलग नहीं और जो वन को वृक्षों से बाहर ढूंढता है उसे वन प्राप्त नहीं हो सकता। अनेक होते हुए भी एक हैं। हमारे भेद में ही हमारी एकता की जड़ है।

फिर निराशा क्यों ?





हमारा कर्त्तव्य
और
हमारी कठिनाइयाँ

"हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरिनाम"

Act act in the living present.
Heart within and God o'erhead.

---Longfellow.

"हिम्मतए मरदाँ मद्दए खुदा।"



ह सत्ता-सागर एक रस नहीं। इसमें भेद अभेद दोनों ही का संयोग है। यह संसार चित्र विचित्र है, किन्तु, यह एक ओर जाने का यत्न करता है। यही इसकी एक—रस्ता है चित्रता ही इसका गौरव है। इस विलक्षण संसार को मनुष्य सक्षात् नेत्र रूप होकर देखता हैं। देख २ कर सुखित भी होता है और दुःखित भी।

इस सुविस्तृत सागर में एक ही प्रकार की लहरें नहीं उठतीं कुछ लहरें प्रवाह अथवा धारा के अनुकूल हैं और कुछ प्रतिकूल भी। प्रतिकूल तरङ्गें स्रोत के वेग को रोक नहीं सकतीं, किन्तु उसको मन्द अवश्य कर देतीं हैं।

हम लोग भी इन्हीं लहरों में से हैं। हम लोग लहरों के ऊपर के तिनके नहीं वरन्, स्वयमेव लहर ही हैं। सागर का प्रवाह निश्चित करने में हमारा भी कुछ हाथ है। भेद रहते हुए भी अनुकूलता और सामञ्जस्य स्थापित करना हमारा काम है। सब लहरों को प्रवाह के अनुकूल बना कर प्रवाह की गति को निश्चित करना हमारे कर्त्तव्य से बाहर नहीं। यही है—क्रिया-द्वारा भाग की पूर्ण से एकता करना। हमारे कर्त्तव्य ही में हमारी क्रिया और हमारे ज्ञान की भी एकता है।

सत्ता-सागर की गति को ठीक ओर चलाने में योग देना हमारा परम पुनीत कर्त्तव्य है। इसके द्वारा हम अपनी तथा सारे संसार की क्रियाओं को ईश्वर की इच्छा के अनुकूल बनाकर मर्त्यलोक को स्वर्गलोक में परिणत कर सकते हैं।

संसार में सामञ्जस्य स्थापित करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति कहाँ से ?। प्रेम से इस क्रिया का जन्म होता है। फिर प्रेम कहाँ से आया ?। समग्र संसार को शोभा सम्पन्न और आत्मस्वरूप करके मानने से प्रेम आविर्भूत हुआ। समस्त संसार को

शोभामय मानना ही सौन्दर्य्योपासना है। इसी से विश्वप्रेम का जन्म है और प्रेम ही सारी क्रियायों की सञ्चालन-शक्ति है।

प्रेम ही सञ्चालन-शक्ति-सम्पन्न है सही पर क्या हम इस महान कार्य्य को सम्पादन करने में समर्थ हैं ?। क्या सुन्दरता के साथ ही साथ कुरूपता नहीं लगी हुई है ?, फिर सौन्दर्य्योपासना कहाँ ?

क्या हम इस संसार के प्रवाह को ठीक २ रीति से चला सकते हैं ?। क्या हम अपूर्ण नहीं ?। क्या हम पाप-ताप-तप्त नहीं ?। क्या दुःखरूपी प्रतिबाधक शिला इस सागर-तल में नहीं ?।

इस कर्मयोग से क्या लाभ ?। क्या इससे हमारी परिमितता का नाश हो जायगा ?। फिर हमारा नेता कौन ?।

ये सारी कठिनाइयाँ ही हमारे गौरव का कारण हैं। कठिनाइयाँ ही हमारी गति को आगे बढ़ायेंगी। विशाल शिलाओं और पर्वतों से समुद्र का वेग घटता नहीं, वरन् बढ़ता ही है। हम हिम्मत करेंगे तो ईश्वर भी हमारी मदद करेगा।

फिर निराशा क्यों ?



सौन्दर्य्योपासना ।

"O Lady! we receive but what we give
And in our life alone doth nature live"

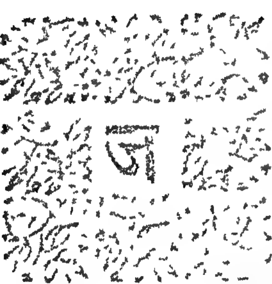
—'COLERIDGE.'

समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय ।

जाकी रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय ॥

—बिहारी



ब गगनारोही तुषार-मण्डित पर्वत-शृङ्गों, वर्षा-वारि-विलोड़ित नदियों, सघन-श्याम मेघ-मालाओं, नवकिसलय-शोभित वृक्षों, नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अञ्चल पर हीरक-खण्ड से जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और विमल सलिलवाही मधुर निनादी निर्झरों को देख-कर हमारा मन-मयूर प्रेमोन्मत्त—पुलक-मुकुलित हो—नाचने लगता है, उस समय हम को अपनी और दृश्यमान संसार की

एकता का अनुभव होने लगता है। यह शोभामय दृश्यमान जगत् जिसके द्वारा हम अपने सौन्दर्य के आदर्श को प्रत्यक्षीभूत कर रहे हैं, हम से भिन्न नहीं है। यदि हम से यह वस्तुतः पृथक् ही है तो भला किस प्रकार हमारे चित्त को चकित और चलायमान कर सकता है।

यह सुन्दर संसार जिस आदर्श का अनुगमन कर रहा है वह आदर्श हमारे आदर्श से भिन्न नहीं। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता दिखाई पड़ने लगती है। यह दृश्य ही ईश्वर की भाषा है। जो लोग इन दृश्यों को देखने से उदासीन रहते हैं वे ईश्वर के माननीय वचनों का निरादर करते हैं।

सौन्दर्य्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है। जब हम कोकिल के कल कूजन में, भ्रमरावली के मधुर गुञ्जार में, मछली के स्वच्छ गम्भीर जल में उछल कर विद्युल्लता की सी चपलता दिखाने में, मदोन्मत्त गजराज की मदभरी चाल में, सिंहनी की क्षीणकटि में, मृगशावक के तरल और कातर नेत्रों में, कमल और शिरीष पुष्पों की कोमलता में, रम्भास्तम्भों की श्लक्ष्णता में, हिम और कपूर की दिव्य धवलता में, पूर्ण शरदिन्दु की सुधा-सनी शीतलता में, आकाश की निष्कलङ्क नीलिमा में, उषःकालीन नवीन मेघों की मनोरम

कालिमा में, राजहंसों की मन्द गति में, कपोत-कपोती की क्रीड़ा-कम्पित ग्रीवा में, विद्रुम की विचित्र अरुणाई में, फलभार-नम्र रसाल-शाखाओं की नम्रता में, करि-कलभ के शुभ्र शुण्ड के कमनीय आकार में, त्रिविध समीर और रजतमयी शरच्चन्द्रिका की मृदुल मन्दमुसक्यान में, स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुन्दरता को आदर्श उपमान उपमेय-रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौन्दर्य्योपासना में सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते हैं।

सौन्दर्य्योपासना-द्वारा हम सुन्दर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार की एकता की स्थापना करते हैं। किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, सुन्दर वस्तु तभी तक सुन्दर रहती है जब तक हम उससे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते हैं। जहाँ लाभ उठाने की चेष्टा की गयी—बस, सौन्दर्य्योपासना के यत्परोनास्ति आनन्द का लाभ हाथ से जाता रहा। जो लोग सौन्दर्य्य को सौन्दर्य्य की दृष्टि से देखते हैं उनके हाथ सौन्दर्य्य नहीं आता और जो लोग सौन्दर्य्य को निस्स्वार्थ दृष्टि से देखते हैं उनके लिये संसार के सारे सुन्दर पदार्थ सुलभ हैं। स्वामी रामतीर्थ ने क्या ही अच्छा कहा है—

"अपने मजे के ख़ातिर, गुल छोड़ ही दिये जब ।
रूए ज़र्मी के गुलशन, मेरे ही बन गये सब ॥
खुद के लिये जो मुफ़ से दीदों की दीद छूटी ।
खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गये सब ॥

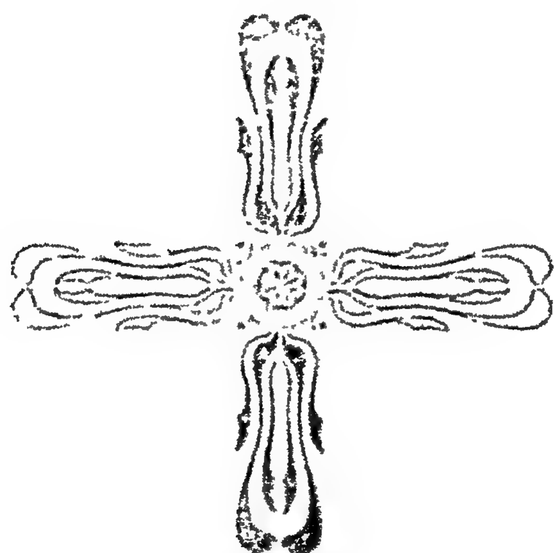
क्या मछली पकड़ने वाले शिकारी को मछली उतनी ही सुन्दर प्रतीत होती है जितनी कि वह एक सहृदय सौन्दर्य्योपासक को ? । फूल को गाँछी से अलग कर लेने पर हमें अनुभव हो जाता है कि, उसका पहले का सा रूप, रंग, सुगन्ध और सौन्दर्य्य नहीं रहता । सुन्दरवस्तु को अपनी सुन्दरता स्थिर रखने में सहायता देना ही सच्ची सौन्दर्य्योपासना है ।

यह उपासना अखिल-विश्व-व्यापिनी है । इसमें कोई साम्प्रदायिक भेद नहीं । यही सच्चा केथोलिक चर्च (Catholic church) है । इस में रोमन और ऐंग्लीकन का भेद नहीं ।

इस महती उपासना-द्वारा हम उस विश्व-सौन्दर्य्य की झलक पाजाते हैं । जिससे संसार भर की सुन्दर २ वस्तुओं को अनूठी सुन्दरता मिलती है । वही सच्ची स्वर्गीय सुषमा उच्चादर्श रूप से सदा हमारे मानस-मन्दिर में विराजमान रहती है । समष्टि और व्यष्टि के आदर्शका मेल हो जाता है । खोई हुई वस्तु अपनी गाँठ से छूटी हुई अमूल्य मणि—मिल जाती है । सौन्दर्य्योपासना द्वारा जड़ चेतन का ही रूपान्तर दिखाई देने लगता है ।

यह शोभामयी सृष्टि हमारे सुन्दर स्वप्नों की वास्तविक मूर्ति बन जाती है। समष्टि-व्यष्टि का साम्य सहज ही में बन जाता है। हमारा कारागार ही हमारा मनोज्ञ विलास-भवन बन जाता है।

फिर निराशा क्यों?





कुरूपता

"Far around and beyond whatever is exceptional and illustrious in human life stretches that which is average and unperceived; all distinctions, all attainments, all signal beauty, skill, wit and whatever a man can exhibit in himself, swim and are lost in that great ocean."

—EDWARD CARPENTER.

"दीने दई गुलाव की इन डारन ये फूल"

"गुले नेस्त कि ख्वार न वाशद"

भौंरा काला है कुरूप है, हम हैं सुन्दर मत समझो।

उस वसन्त का है वह साथी, जिसके तुम कहलाते हो॥

'कमलाकर'

सौन्दर्य्य की उपासना करनी उचित है सही पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निन्द्य है? नहीं, सौन्दर्य्य का अस्तित्व

ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुन्दर पदार्थ अपनी सुन्दरता पर चाहे जितना मान करे किन्तु असुन्दर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है। अन्धों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूप-हीन वस्तु ही रूपवान वस्तु का आधारभूत और पालक-पोषक है। कीचड़ से ही कमल की स्थिति है गुलाब भी कँटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न क्षार समुद्र से निकलता है। मणि खानि से निकलती है। गजमौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलाम्बर में चन्द्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अन्धकारमय गह्वरों में भाँति भाँति की वनौषधियाँ विद्यमान रहती हैं। बड़े बड़े बीहड़ जङ्गलों में सहज सलोने मृगछौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से और सघन सुन्दर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति रूखी और मोटी २ जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर और हरी भरी लहलहाती वनस्पतियों की स्थिति जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है। भूसी निकल जाने पर चावलों में से अंकुरित होने की शक्ति जाती रहती है।

आपके सुन्दर वस्त्र, जिनसे आप की सुन्दरता बनी हुई है, कहाँ से आये? वे मिट्टी के ढेले, जिनसे कपास की उत्पत्ति

हुई, क्या वे बड़े रूपवान थे ? वह बेचारा श्रमसहिष्णु कृषक, जिसने दिन रात परिश्रम करके कपास के खेत को उपजाऊ और हरा भरा बनाया, क्या वह भी आपही की भाँति कोमल और सुकुमार था ?। क्या वह लोहे की चर्खी (मशीन), जिसमें कपास साफ की गई थी और जिसके द्वारा कपास सूत में परिणित हो कर सुन्दर वस्त्र रचने के योग्य हुई, काले २ कोयलों की ढेर से नहीं चलाई गई थी ?। 'मिल' में काम करने वाले लोग भी सब के सब आपही की भाँति सुकुमार और सुभग सुवेश वाले न होंगे। किन्तु यदि यह सब कुरूप पदार्थ न होते तो आपके सौन्दर्य्य की वृद्धि करने वाले ये सब पदार्थ कहाँ से सुलभ हो पाते ?।

सत्तासागर में दोनों ही की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों ?।

रूपहीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाये हुए बैठे हैं। सुन्दर वस्तु को भी हम इसीकारण से सुन्दर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं।

आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य्य-पूर्ण हो जाने पर सुन्दर और असुन्दर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान नहीं कहती। इसका यही कारण है कि

वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने ही आप को देखेंगे तब हमको कुरूपवान भी रूपवान दिखाई देगा। यदि ऐसा न भी हो तो कोई विस्मय नहीं पर रूपहीन वस्तु से घृणा तो अवश्य ही जाती रहेगी। मानव शरीर के ही अंग प्रत्यंग एक ही समान सभी सुन्दर नहीं होते।

रूपहीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं—तिरस्कार के पात्र नहीं। वह भी उसी सुविशाल रत्नाकर का एक कण है, जिसका सुन्दर पदार्थ। सुरूपवानों का उदय भी कुरूपवान पदार्थों से ही होता है। मिट्टी और खाद के कण सुन्दर सुरभित सुमनों में परिणत होते रहते हैं। अतिशय कर्कश, टेढ़े और ऊबड़ पत्थरों से ही मनोमुग्ध-कारिणी, हृदयग्राहिणी एवं दृष्टि-उन्मेषिणी मूर्त्तियाँ रची जाती हैं। जो आज कुरूपवान वस्तु है वही कल सुरूप-वान बन जावेगी।

फिर निराशा क्यों ?





विश्वप्रेम और विश्वसेवा ।

बास उसी में है विभुवर का, है बस सच्चा साधु वही।
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बांह गही ॥
आत्म स्थिति जानी उसने ही, पर हित जिसने व्यथा सही।
पर हितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही "॥

"मैथिलीशरण"।

प्रेम-पण्डित ही प्रकृत अद्वैत को है जानता,
ईश को संसार में सर्वत्र सब में मानता।
है न उसके चित में हिंसा-प्रवृत्ति वलीयसी ॥
है उसे सब ही जगत विश्वेश की वाराणसी ॥

—कमलाकर।

जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है
प्यारी! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है

—प्रियप्रवास।



सार के सभी प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग इत्यादि—स्वहित-साधन में तत्पर रहते हैं। अपने ऊपर प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिए सब के सब उदार ही

हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभावत ही अपने ऊपर प्रेम करता है। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो अपने से अतिरिक्त और किसी व्यक्तियों को प्यार करते हैं। मनुष्य अपने हित-चिन्तन के साथ दूसरे का भी हित-चिन्तन कर ही लेता है।

क्रूरातिक्रूर मनुष्य के हृदय-क्षेत्र से दया के कोमल बीज नितान्त नष्ट नहीं हो जाते। कभी कभी समय पाकर अंकुरित हो आते हैं। निष्ठुर व्याध दिन भर भीषण हत्या-काण्ड में प्रवृत्त रहता है—किस अर्थ ? अपने और अपने बाल बच्चों के भरण-पोषण के निमित्त। अपने प्यारे बच्चों के लिए तो निष्करुण व्याध का भी हृदय अत्यन्त सुकोमल हो जाता है। ऐसे २ नर-पिशाच, जिनका हृदय कभी किसी के लिये दयार्द्र और प्रेम-प्लावित नहीं हुआ हो, शुष्क वैज्ञानिक अथवा अर्थशास्त्र-विशारद पण्डितों के विभी-षिकापूर्ण मस्तिष्क में घुमते हों तो हों, किन्तु इस प्रत्यक्ष दृश्यमना जगत में तो वस्तुतः कहीं ऐसे पामरपतित नहीं दीख पड़ते।

भयंकर बाघ भी बाघनी पर आसक्त हो उसके लिये अपनी भारी भयंकरता भूल जाता है। कालरूप सर्प अपनी प्यारी नागिन के लिये अपनी दुर्दमनीय विषैली शक्ति भूल कर कोमल कलेवर धारण कर लेता है। ऐसा कोई नहीं जो किसी न किसी काल में अपनी व्यक्तिता न छोड़ता हो। जहाँ व्यक्तिता गयी वहीं प्रेम की

विजय-ध्वनि हुई। बस, सभी विश्वव्यापी पवित्र प्रेम के अधीन हैं।

प्रेमदेव के वशीभूत होने पर फिर व्यक्तित्व कहाँ? प्रेम के प्रज्वलित पुनीत-पावक में पार्थक्य का नाश हो जाता है। जहाँ प्रेम है वहीं व्यक्तित्व का त्याग (अभाव) है। प्रेम में ही आत्मा के केन्द्र का विस्तार दिखाई पड़ता है।

जहाँ एक बार व्यक्तिता का त्याग हुआ; बस फिर कोई सीमा बाँधना वृथा है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हो गया तब सारे भेद भी उसी के साथ छिन्न भिन्न हो गये

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। और फिर, जहाँ यह ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पूतात्मा का प्रकाश अथवा विकाश है, प्रेम—रुके हुए जल-स्रोत की भाँति सारे बन्धनों को तोड़-फोड़कर—चारोओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध स्रोत अथाह है। प्रेम की स्वभाविक वृद्धि विश्वप्रेम द्वारा सम्भव है। भौतिक पदार्थों की भाँति प्रेम की परिस्थिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्वप्रेम उन्हीं के लिये कठिन एवं दुस्साध्य है जो अपनी आत्मा को पञ्चमहाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता। किन्तु प्रकृतिवादी भी व्यक्तिता से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी परहित

साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है। जादू वही है जो सिर पर चढ़ कर बोले ?

क्या हम को प्रतिक्षण इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि हम इस क्षुद्र शरीर में संकुचित नहीं ? हमारे आदर्श हमें अपनी परिमितता से बाहर ले जाते हैं। हमारी देह और इन्द्रियाँ एक-देशीय हों तो हों पर हमारी आत्मा में एक-देशीयता का लेशमात्र भी नहीं।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे २ हमारी औदार्य्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे हमारी आत्मा का वृत्त बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिए उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति-सुधारक के लिए जाति ही और राष्ट्रनिर्माता के लिए राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा निज परिवार, कुटुम्ब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती। उसकी स्वार्थसिद्धि तो देश के परम कल्याण से है। देश का ऐश्वर्य उसका ऐश्वर्य है। जिस बात से देश का शुभ कलंकित हो—उसी बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का शुभ उज्ज्वल हो—लांछन छूट जाय—मस्तक उन्नत हो—वही उस देश-भक्त के पर-

मानन्द का प्रधान कारण होता है। मनुष्य मात्र की हितकामना करने वाले की आत्मा का विस्तार देशहितैषी की आत्मा के विस्तार से भी वृहत् है। फिर तो, प्राणिमात्र से अविरल प्रेम करने वाले महापुरुष की आत्मा का कहना ही क्या है। वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। केन्द्रभूत आत्मा के वृत्त का जितना ही वृहत् विस्तार बढ़ता चला जाय उतना ही अमोघ आनन्दामृत की वृष्टि होगी—यह मिट्टी की काया कञ्चन की हो जायगी—इसी धरती पर स्वर्ग भी उतर पड़ेगा। आत्मा का विस्तार केवल इस बात को जान लेने ही से नहीं बढ़ता कि हम सब एक ही हैं। यह ज्ञान विश्वप्रेम और विश्वसेवा के लिए परमावश्यक है। किन्तु इनका प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण बिना प्रेम और सेवा के नहीं होता।

विश्वप्रेम और विश्वसेवा ही द्वारा व्यक्तित्व का जटिल बन्धन छूट सकता है। सेवा ही द्वारा अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्वप्रेम से ही समष्टि व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्वसेवा ही द्वारा आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुञ्चित विस्तार हो जाता है—सङ्कीर्णता के स्थान में प्रशस्तता का तज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे संसार को अपना बना

सकते हैं— कलियुग को कृतयुग में पलट सकते हैं—

फिर निराशा क्यों ?



अपूर्ण की पूर्णता ।



अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते
स्वल्पमप्यनुगंतव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥

What I aspired to be
and was not comforts me.

—ROBERT BROWNING.



मनुष्य अपूर्ण है' —क्या यह उसके लिए लज्जा, अपमान और निराशा का विषय है ?। क्या मनुष्य परिमित है ?। और, क्या परिमितता दोषों की गणना में आने योग्य है ?। मनुष्य कैसे परिमित हो सकता है। यदि मनुष्य परिमित है तो अखिल विश्व में कोई अपरिमित वस्तु नहीं। कारण कि, परिमित परिमित ही से परिमित हो सकता है। माना कि, मनुष्य परिमित है, अतः अपूर्ण भी है, तो क्या अपूर्णता में कोई

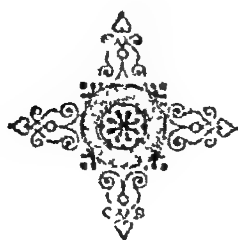
विशेषता नहीं ? । हमारी अपूर्णता ही हमारी विशेषता है । इसी का हमें गर्व है—इसी में हमारा गौरव है । अपूर्णता ही में पूर्ण वृद्धि और उन्नति की आशा है। बद्ध होने पर ही मोक्ष होती है। अपूर्णता ही जाती जागती वस्तु है ।

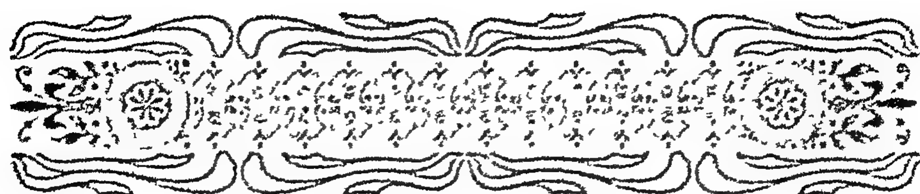
अपूर्ण की सम्भावनाएँ अपरिमित हैं । वे चाहे जो कुछ हो सकती हैं । अपूर्ण की अपरिमित सम्भावनाओं में उसकी पूर्णता है । अपूर्ण हो कर भी जो अपने को सत्कर्म्म-सद्धर्म-परायण बनाते हैं उन्हीं का समुचित सम्मान किया जाता है । इसी कारण मनुष्य-योनि को सर्व-श्रेष्ठ कहा है । उसकी अपूर्णता ही से सत्कर्मों का मूल्य बढ़ जाता है । वह सहज ही में परमगति प्राप्त कर लेता है । इसी कारण देवता लोग भी नर-शरीर धारण करने के लिए लालायित रहा करते हैं । औरों का तो कहना ही क्या ! स्वयं पर-मात्मा भी अपूर्ण का महत्त्व बढ़ाने के अर्थ संसार में अवतीर्ण होते रहते हैं । भगवान् अपनी नर-लीलाओं द्वारा अपूर्ण की अमित सम्भा-वनाओं को संसार पर प्रकट करते रहते हैं । पूर्ण का व्यञ्जन अपूर्ण द्वारा ही हो सकता है । अपूर्ण ही पूर्ण की भाषा है । कालातीत काल में प्रकट हो काल को वास्तविक सत्ता देता है ।

अपूर्ण पूर्ण का ही रूपान्तर है। अपूर्णता में ही पूर्ण की नित्य नूतन मूर्त्तियाँ दिखाई पड़ती हैं अपूर्ण अपूर्ण नहीं वरन् पूर्ण का ही चलता हुआ रूप है ।

शुक्ल पक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा अपूर्ण है। उसकी सब वन्दना करते हैं। इसका क्या कारण है। उसकी अपूर्णता ही उसके जगद्वन्दनीय होने का हेतु है। अपूर्णता में उत्तरोत्तर वर्द्धमान होने की सम्भावना है। यह सम्भावना ही अपूर्ण के गौरव को बढ़ाती है। इस गरिमापूर्ण अपूर्णता को प्राप्त कर हम को अपना जीवन धन्य समझना चाहिये। यद्यपि इस जीवन में सुख दुःख सफलता असफलता, हानि लाभ, संयोग वियोग के जोड़े लगे हुए हैं तथापि यह उन्नतोन्मुख होने के कारण सब जीवनों में श्रेष्ठ है। हमारी अपूर्णता में स्थिरता का दोष नहीं। हमारे उन्नति-पथ की ओर-छोर नहीं। इसमें सदा नवीन दृश्य दिखाई पड़ते रहते हैं। इस कारण इस पथ की अनन्तता हमारे उत्साह को घटाने वाली नहीं, हमारे अपूर्ण चन्द्र के लिये कभी पूर्णिमा नहीं आती और न इसको निष्क्रियताका राहु ही ग्रस सकता है। हमारेलिये सदा शुक्लपक्ष है।

फिर निराशा क्यों ?





पुनीत पापी



'Hate sin and not the sinner.'

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।
वन्दनीय तेहि जग यश पावा ॥

—तुलसीदास



क्या हम पापी नहीं ? फिर तो हम से दूसरे की भलाई होने की क्या सम्भावना ? हम किस प्रकार सत्तासागर की गति को सीधी करने में योग दे सकते हैं ? ।

वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि सभी मुक्त-कण्ठ से जघन्य पापों से बचने की आज्ञा देती हैं । किन्तु पापी को त्याज्य नहीं बताते । कौन ऐसा है जो पापी नहीं ? । जब सभी लोग पाप-पङ्क में फँसे हुए हैं तो कौन किससे घृणा कर सकता है । कौन किसको परित्याग कर सकता है ।

एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देख कर हम इस गाढ़े पाप-पङ्क से बाहर नहीं निकल सकते। घृणा करने से हमारी शक्ति कम होगी। एक दूसरे के साथ सहृदयता में ही हमारे पाप-पङ्क से मुक्त होने की सम्भावना है।

हम पापी हैं। हमें पापियों को नीच न समझना चाहिए। जब हम पाप के तीव्रतम तीक्ष्ण ताप से तप्त होते हुए भी पाप से विमुख नहीं होते तब हम को पापियों से मुख मोड़ने का क्या अधिकार ?।

पापी लोग उनकी अपेक्षा अच्छे हैं, जो अपने को पूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग अपनी उन्नति का द्वार सदा के लिए बन्द कर चुके हैं। उनके जीवन-नाटक के अभिनय में अन्तिम बार यवनिका-पतन हो चुका है। अब उस नाट्यशाला के रङ्ग मञ्च पर कोई मनोज्ञ दृश्य न दिखाये जायँगे। उनकी शिक्षा शेष हो चुकी। वे अपना समावर्तन-संस्कार करा चुके। वे अब पीछे हो हटेंगे आगे न बढ़ेंगे। न तो वे अपना सुधार कर सकते हैं और न उनसे दूसरे के सुधार की आशा है। वे लोग हमारे नेता नहीं बन सकते। हमारे नेता हम से बाहर नहीं हो सकता।

हम पापी लोग मनुष्य समाज के गौरव हैं। मनुष्य ही एक ऐसा जीवधारी है जो पाप कर सकता है। पशु-समुदाय न पाप ही करता है न पुण्य ही। देवगण केवल पुण्य ही पुण्य। हम लोग

पाप और पुण्य दोनों ही करते हैं। पाप करने की सम्भावना होते हुए पुण्य करना ही मनुष्य-श्रेष्ठता का कारण है?

मानव समाज में पापियों की स्थिति मनुष्य की अपनी स्वतन्त्रता की सूचक है। मनुष्यों ने अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग अवश्य किया पर यदि दुरुपयोग की सम्भावना न होती तो सदुपयोग ही से क्या लाभ होता। और फिर, हमारी स्वतंत्रता किस बात की। जिस बात की सम्भावना है उसका होना भी कोई आश्चर्य नहीं। घोड़सवार ही गिरते हैं, घुटनों के बल चलने वाले बच्चे क्या गिरेंगे?। मनुष्य ही पाप करते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतंग नदी, पर्वत, वृक्ष, लता, ईंट, पत्थर आदि भला क्या पाप करेंगे।

वे लोग, जो अपने को पापी समझते हैं और इस कारण दूसरे के साथ सदा नम्र भाव से वर्तते हैं, अहंमन्य पुण्यात्माओं से कहीं अच्छे हैं। उनका दर्शन परम पुनीत है। उनको देखने ही हमारे हृदय में मनुष्यत्व के सद्भावों का अभ्युदय होता है।

जो लोग अपने को पापी समझते हैं उन्हीं से समाज के सुधार की पूरी पूरी आशा है। वे ही लोग पापियों से मिल कर पापियों के पुनरुत्थान में सहायता दे सकेंगे। पाप के दलदल से निकलना एक व्यक्ति का काम नहीं। इसमें सहका-रिता की आवश्यकता है। ऊपर की चढ़ाई कठिन है। सब

को एक साथ लेकर ही चलना श्रेयस्कर है।

हम गिर गये हैं। यह हमारे लिए कोई निराशा का विषय नहीं। गिर कर अधीर हो पड़े रहना लज्जा का विषय अवश्य है। किन्तु न गिरने वाले से गिर कर उठने वाला ही श्रेष्ठ है। वह एक बार गिर चुका है—जीवनयात्रा के पथ को दुर्गम बनाने वाले गहरे गढ्ढों और बड़ी २ खाइयों को पहचान चुका है—अत एव, सँभाल कर सावधानी से चलेगा।

हमारा पिछला जीवन बुरा है—यह हमारे भय का कारण नहीं। यदि हम अगले जीवन को सुधार सकते हैं तो हमारा सारा जीवन सुधर जावेगा। गया वक्त भी फिर हाथ आ जावेगा।

हमारा जीवन बन रहा है। अभी सुधार का सुअवसर मिला है। अपनी भूल को भूल मानने में अभी बहुत देर नहीं हुई। यदि हम गिर कर उठेंगे—सँभलेंगे—सुधरेंगे तो हमारा सुधार चिरस्थायी होगा। हमारे अनेक साथी हैं। यदि उनको हम अपने साथ ले चलने की कोशिश करेंगे तो दुर्गम मार्ग भी सुगम बन जावेगा—मार्गस्थ सभी विघ्नबाधाएँ टल जायँगी हम उनके साथ सुखपूर्वक चले चलेंगे और वे हमारे साथ अग्रसर होते जायँगे। हमारी सहायता करने में वे हाथ बँटावेंगे और उनकी सहायता करने में हम तन,मन और धन समर्पण करेंगे। हमारा दुर्गम पथ सुगम हो जायगा।

फिर निराशा क्यों ?

स्वयम्भू-सुधारकोंका सुधार

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम् ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ॥
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतं ।
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥
खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

— भर्तृहरि

[illegible] ।
[illegible] ॥

आत्मानमेव प्रथमं [illegible]
कुर्यात् गुणैर्युक्तं ततः [illegible]

— [illegible]

"Physician heal thyself."



म दरिद्र हैं। हम घृणित हैं। हम पददलित हैं।
हम दूसरों की दया के भूखे रहते हैं। सब लोग
हम से बातचीत करना घृणा का कारण समझते

है। हमारे सुधार के लिये सभा-सुसाइटी करते हैं। हम किसका सुधार कर सकते हैं।

सुधार किसका ?। अपना और अपने सुधारकों का। हम गिरे हुए है। हम अपने सुधारकों से कैसे बढ़ सकते हैं और क्या हमारे सुधारकों में भी सुधार की आवश्यकता है ?। हाँ, हमारे सुधारक हमसे गिरे हुए हैं। वे समझते हैं कि, वेही बड़े विचार-वान हैं। वे समाचारपत्रों को पढ़ते हैं और क्लब में बैठकर यूरोपीय महाभीषण संग्राम और अमेरिका के अन्तर्जातीय व्यवसाय पर सम्मति दे सकते हैं और प्राप्त सम्मतियों का समर्थन भी कर सकते हैं। वे सात समुद्र पार की बात जानते हैं। किन्तु उनको यह नहीं मालूम कि उनके नौकर के घर में कितने बच्चे हैं और वे किस प्रकार जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। वे यूरोपीय महायुद्ध की रोमाञ्चकारी घटनाओं को सुनते हैं किन्तु एक भूखे कंगाल के साथ दारिद्य दैत्य से घोर युद्ध होने की हृदयद्रावी बात सुनने में उनको सिरदर्द हो जाता है।

हमारे सुधारक स्वतन्त्रता की डींग मारते हैं। किन्तु उनमें से बहुतेरे सामजिक जटिल बन्धनों से बाहर होने में सर्वथा असमर्थ हैं। गर्मी बरदाश्त करेंगे, कपड़े नहीं उतार सकते। नंगा नौकर फिरेगा—आप कपड़े पहनेंगे। भूखे दुःखियों को खिलाने के लिए तो नितान्त निर्धन बन जायँगे पर क्लब और पार्टी में खाने

खिलानेकी बेर कुबेरके बड़े भाई बन जाते हैं। अपनी स्वार्थसिद्धि के हेतु नौकरों से झूठ कुहलाना अथवा अन्याय और कुनीति-पूर्ण बातें कहलाना अत्यन्त साधारण बात समझते हैं और, जब वह नौकर अपने लिए झूठ तथा कुनीति के वाक्य बोलता है तब दंड देने में तनिक भी संकोच नहीं करते।

समाजसुधारक बनते हैं। किन्तु एक नीच मनुष्य से बाज़ार में यह नहीं पूछ सकते कि—'भाई! आपके घर कुशल मंगल तो है?'। पुण्यात्मा बनते हैं, किन्तु पापी से हृदय-शून्य व्यवहार करने में लज्जित नहीं होते। जाति-पाँति का भेद नहीं मानते, किन्तु धोबी, धीवर और धानुक से अपशब्द कहे बिना मुख नहीं खोलते।

अर्थ शास्त्र के पण्डित बनते हैं, किन्तु कभी खेतों में जाकर नहीं देखते कि किस तरह के कड़े चूर पश्रिम से अर्थ पैदा होता है। पूँजीवाले बनते हैं, किन्तु असली पूँजी बनानेवालों का सलाम तक भी नहीं लेते।

अँग्रेजी फ़िलासफ़ी और भारतीय दर्शनों का मनन मथन करके विविध भाँति के अनुसंधान करते हैं, किन्तु एक निपट दरिद्र के शुद्ध अगाध हृदय में पैठ कर वहाँ पर बिखरे हुए मोती के दाने नहीं उठाते—उस चित्त-विकार-विगतहृदय में पैठ कर खोज नहीं करते। दर्शनशास्त्र का पाठ करते हैं पर संसार के नश्वर

पदार्थों में अविनाशी परमात्मा का दिव्य दर्शन नहीं करना चाहते।

साहित्य-सुधारक कहलाने के गौरव से गर्वित हैं पर किसी मनुष्य के साथ मधुर मंजुल सम्भाषण करके उसके कलुषितचित्त में घिरी हुई भीमान्धकार की घटा हटा कर उत्साह और विवेक की विमल ज्योति जगाना नहीं जानते। शायद वे स्वयं अपने हृदय को भी प्रेमप्रदीप से आलोकित करने का प्रयत्न नहीं करते। बड़े भारी रत्न-परीक्षक बनते हैं, किन्तु जीते जागते जगमगाते हुए रत्नों का दिन रात तिरस्कार करते रहते हैं। अहो, इन बड़ों की क्षुद्रता! 'अहो, धिग्वैषम्यं लोकव्यवहारस्य'। क्या हम इनसे अच्छे बन सकते हैं? अवश्य। हम में क्या विशेष गुण है? हमको दुःख और निर्धनता की पुनीत पाठशाला में श्रमशीलता, स्नेह और सहृदयता की शिक्षा मिल चुकी है। अब हमको जो कुछ शिक्षा मिलेगी उसे हमारी पूर्वार्जित शिक्षा पावन बना देगी। हम दुखिये का दुखड़ा समझेंगे। कभी किसी को नीचा न देखेंगे।

हम को अपने सुधार के लिए विशेष धन की दरकार नहीं। हमको नवीन पद्धति की शिक्षा के लिए भव्य भवनों तथा बिजली के पंखों की आवश्यकता नहीं। हमको तो ज़मीन ही पर बैठने का शौक़ है। पेड़ की डालियों से समता रखने वाली टेढ़ी

सीधी कुर्सियों की आवश्यकता नहीं। हमारे वास्ते बिजली की चमकीली रोशनी की भी दरकार नहीं। प्रेम की प्रदीप्त प्रभा से ही हमारे घरों में प्रकाश छा जायगा। हमको हाथ से काम करने में कुछ लज्जा नहीं आती। हमें सेवक की चाह नहीं। हम स्वयंसेवक बनना परमधर्म समझेंगे। स्वेच्छासेवक बनकर अपने को गौरवान्वित समझेंगे।

हमारे सुधार से हमारे सुधारकों का भी नेत्रोन्मीलन हो जायगा। हम अपने सुधार-द्वारा जग का सुधार कर सकेंगे। हमारे सुधारक भी यदि यह शिक्षा ग्रहण करलें तो देश का कल्याण होने में विलम्ब न होगा। हम अपने सुधारकों के सुधारक बन सकते हैं।

फिर निराशा क्यों ?



दुःख ।

'नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते

कालिदास

विधि प्रपञ्च गुण औगुण साना ।

दुःख सुख पाप पुण्य दिन राता ॥

—तुलसीदास

Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough
Each sting that bids nor sit nor
stand but go.

Be our joys three parts pain!
Strive and hold cheap the strain
Learn, nor account the pang; dare
never grudge the throb.

—BROWNING.



य दुःख!!! तुझ से अभिभूत एवं पीड़ित होकर हम लोग किस किस को बुरा नहीं कहते और किस २ के शत्रु नहीं बनते?। तुझ से बचने के लिए किस २ के साथ अनर्थ और

अन्याय नहीं करते ?। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। तुझ से दार्शनिक पण्डित भी डरते हैं। तेरे अनेक रूप हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिए तुम विशेष रूप धारण कर व्यक्त होते हो। किन्तु तेरा स्वागत करना विरले ही जन जानते हैं। लोग पूछते हैं कि तुझ से क्या लाभ ?। तेरा स्वागत क्यों करें ?। तुझ में क्या अनोखा गुण है ?। किन्तु वे लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि तू जगत में एक महती सञ्चालन-शक्ति है। तेरे ही साक्षात्कार से ईश्वर की अपरोक्षानुभूति होती है। तू धनमदान्धों का ज्ञानाञ्जन है। अतः तू जगत् का परमगुरु है। तेरी मैत्री में सांसारिक सम्बन्ध का सत्यासत्य का निर्णय हो जाता है। देखो, कहा भी है कि—"धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपति काल परखिय चारी॥" इसलिये तू ही मनुष्यत्व की एक मात्र सच्ची कसौटी है। तेरी शिक्षा के प्रभाव से दया, सहिष्णुता, स्नेह सहृदयता एवं वैराग्य आदि सद्गुणों का आविर्भाव होता है। तू कुलिश-कर्कश-हृदय को द्रवीभूत कर के कोमल कमल सरीखा बना देता है। तेरी ही प्रेरणा से निर्दय दयालु, आसक्त विरक्त, कायर शूरवीर और अधीर धैर्यवान बन जाता है। करुणारस-पूर्ण काव्य को पढ़ने से दुःख अवश्य होता है, किन्तु कोई उस दुःख से नहीं भागता। उस दुःख से जो चित्त की शुद्धि है वह आँसुओं के मोल में सस्ती है। लोग रुपया खर्च

करते हैं और दुःखान्त नाटक में अश्रु धारा बहाना पसंद करते हैं। किस अर्थ ? अपने हृदय के मानुषी भावों की पुष्टि के लिये ही इतना कष्ट उठाया जाता है। वियोग के दुःख में ही प्रेम की पूर्ण प्रतीति होती है। वियोगी लोग संसार भर के सुख के लिये भी अपने वियोग-जन्य दुःख को नहीं छोड़ना चाहते। सुखवादी चाहे जो कुछ कहे, मनुष्य को दुःख से स्वाभाविक घृणा नहीं।

हे सर्वगुणशाली दुःखदेव ! हम तेरे शुभागमन से किञ्चित्मात्र विचलित नहीं होते। हम तुम से डरते भी नहीं। क्योंकि तू हमारा आत्मज है। तेरे जन्म से भावी सुख की पूर्ण आशा है। दुःख की पवित्र अग्नि में हृदय दौर्बल्य, मनःक्लैब्य, राग, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार और क्रोध आदि विषम दुर्गुणों के दहन हो जाने पर हम तप्त काञ्चन की भाँति दैवी-प्रभा से चमकने लगेंगे। दुःख दावानल में दग्ध होकर विकार का बीहड़ वन भस्म हो जायगा और हमारी विशुद्ध आत्मा अमूल्य मणि की भाँति देदीप्यमान हो जायगी। जिससे हम भयभीत होते हैं वही हमारा परमहितेच्छु —प्रिय सखा है। दुःख ही 'हमारे विकाश का साधक है—हमारे अभ्युदय का बलवान प्रेरक है।

फिर निराशा क्यों ?

भूल ।

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः

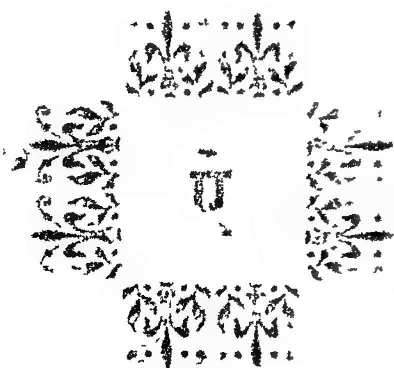
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।

— मनुस्मृति ४।१३७

" To err is human."

" Mistakes are but the preludes to their own destruction."

— TAGORE.



भूल! मानवजाति से तेरा घनिष्ठ सम्बन्ध है। साधारण मनुष्य अपने छोटे मोटे कार्य्यों में भूल करते हैं। महान पुरुष भी अपने महत्कार्य्यों के सम्पादन में भूल कर बैठते हैं। किन्तु भूल से कोई भी खाली नहीं। दृष्टि में भूल, सुनने में भूल, विचारने में भूल

समझने में भूल, कर्त्तव्य-पालन में भूल और अनेक साधारण कार्यों को सम्पन्न करने में भी भूल। अरी भूल ! भिन्न भिन्न रूप से तू मानव-समाज में व्याप्त हो रही है। फिर तो मनुष्य का गौरव कैसा।

"मनुष्य भूल करता है, अतः वह निन्द्य हैं, नीच है, उसकी बातों का विश्वास नहीं" ; ऐसा विचार करना बड़ी भूल है। केवल यही एक ऐसी भयंकर भूल है जो अमार्जनीय है।

भूल ही मनुष्य का गौरव है। भूल भी केवल मनुष्य ही कर सकता है—मशीन या जानवर नहीं कर सकते, जिनके लिए एक मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं। मनुष्य के लिए अनेक सम्भावनाएँ हैं। उनका दृष्टि-क्षेत्र संकुचित नहीं। उसके लिए सहस्र सहस्र मार्गों के द्वार उन्मुक्त है।

भूल ही से इन भिन्न २ मार्गों की यथार्थ उपयोगिता का ज्ञान होता है। भूल ही द्वारा अनिश्चित ज्ञान निश्चित होता है। भूल ही से स्वप्न भी वास्तविक सत्ता में परिणत होता है। मनुष्य जाति की उन्नति का विकाश भूल ही के इतिहास में है। भूल ही द्वारा मानव-जाति की नयी २ सम्भावनाओं की सूचना मिलती है। भूल ही द्वारा वन्द राहों के फाटक खुल जाते हैं। भूल अज्ञान नहीं। भूल ही असली ज्ञान की प्रथम श्रेणी है। भूल अल्प ज्ञान है। हम जान बूझ कर भूल

नहीं करते। अपनी जानकारी भर में सब ही ठीक किया करते हैं। केवल भूल इतनी ही है कि, हम थोड़े से ज्ञान के आधार पर ही काम कर बैठते हैं। किन्तु बिना क्रिया के ज्ञान का परिपक्व होना कठिन है। क्रिया की कुंजी से ही ज्ञानके दुर्भेद्य रहस्य का ताला खुल जाता है। फिर भूल को हम भूल क्यों कहें।

बिना धरती पर पैर रक्खे उस स्थान की दृढ़ता नहीं मालूम होती। यदि निकल गये तो पार हो गये और यदि गिर पड़े या दलदल में फंस गये तो अपने लिये और दूसरों के लिये शिक्षा हो गयी।

जो लोग भूल करके हानि उठाते हैं, वे मनुष्य-समाज के लिए अपने हित का बलिदान करते हैं और स्वार्थ की तिलाञ्जलि देकर परहित-साधन करते हैं। वे समाज का बड़ा उपकार करते हैं। वे हमारे पूज्य हैं। हम उनके उपकार से कदापि उऋण नहीं होसकते।

एक मनुष्य की बलिसे सारे मानव-समाज का अभ्युदय होता है। भूल करने वाले का जीवन व्यर्थ नहीं जाता। जो लोग अपनी आत्मा का विस्तार सभी आत्माओं में निरीक्षण करते हैं उनके लिये परहितार्थ अपना अनहित या स्वार्थ-त्याग श्रेय है। भूल से जो संसार का लाभ होता है उसी की ओर ध्यान दो—भूल करने वाले व्यक्ति की हानि की ओर नहीं। फिर तो भूल सचमुच भूल न रहेगी।

जो लोग भूल करते है वे लोग मनुष्य की आवश्यकताओं का झुकाव समाज पर प्रकाशित कर देते है। भूल से बढ़ कर मनुष्य की आवश्यकताओं का और कोई ज्ञापक नहीं है। भूल करने पर ही हमको यह मालूम होता है कि हमें किस बात की खोज थी। भूल से ही खोज का महत्त्व बढ़ जाता है। भूल करने पर ही यह मालूम होता है कि, हमारी आवश्यकता इतनी बढ़ी हुई थी कि हमें उसकी पूर्तिके लिये भूल करनी पड़ी! क्या अपनी आवश्यकताओं की जानकारी रखना हमारी उन्नति का एक मुख्य साधन नहीं? जो लोग अपनी आवश्यकताओं को नहीं जानते वे लोग उनकी पूर्त्ति में यत्नवान नहीं हो सकते।

भूल ही हमारी उन्नति का द्वार है। जो लोग भूल नहीं करते वे लोग अपनी उन्नति का द्वार बन्द किये हुए बैठे हैं। यदि भूल करके अपनी भूल के ऊपर विचार करें तो अपनी स्वल्प हानि से गुरुतर लाभ उठा सकते है। कङ्कड़ों के मोल मे रत्न खरीद कर सकते हैं।

फिर निराशा क्यों ?

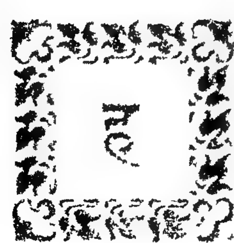
हमारा नेता कौन ?

मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोल-निम्ब-कुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥

- भर्तृहरिः ।

They (Kabir, Nanak and others) did not say, "You have been wicked, now let us be good." They said " You have been good, now let us be better."

—SWAMI VIVEKANAND



हम पाप-पंक में फँसे हुए हैं। हमें इस से कौन उबारेगा ?। हमारा नायक कौन ?। हमारा नेता वही हो सकता है जो हमारे साथ है। जो लोग हमारे साथ नहीं उनको हमारी कठिनाइयों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उनके उपदेश से हमारे लाभ की कोई सम्भावना नहीं।

लोग कहते हैं कि अन्धा अन्धे को राह नहीं बतला सकता। क्या यह ठीक है ?। नेत्रवान लोगों का और अन्धों का अनुभव एक सा नहीं। नेत्रवान के अनुभव से अन्धे लाभ नहीं उठा सकते। "खग जाने खग ही की भाषा"। "गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरंधराः"

जो लोग हम से बाहर हैं वे लोग हमारे साथ ज़ोर नहीं लगा सकते। ऐसे कितने हैं जो हमसे बाहर हैं। फिर उनका बल ही कितना। हमारे उद्धार के लिये हमारे साथ रह कर ज़ोर लगाने की ज़रूरत है। जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा नेता नहीं। हमारे साथ जिसकी सहानुभूति नहीं, हमारी सहकारिता में जो योग नहीं देता—जिसके निर्मल हृदय-दर्पण में हमारे दुःख का सच्चा प्रतिबिम्ब नहीं, वह कदापि हमारा उन्नायक नहीं।

हमारा सच्चा नेता वही है जो हमारे साथ रहते हुए भी आगे की ओर निगाह डाल सकता है। आगे की ओर देखना ही उन्नति के पथ में पैर रखना है। आगे की ओर देखते ही हमको अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता है। जहाँ अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ वहाँ बस उस स्थिति में रहना कठिन पड़ जाता है। जो नीचों में रह कर ऊँचे आदर्श रक्खें, वे ही हमारे नेता हैं। संसार में ऐसे नेताओं की कमी नहीं। नेता की पदवी सब को मिल सकती है। किन्तु जो लोग अपने को हमसे आगे बढ़ा हुआ

समझते हैं, वे लोग इस गौरव को नहीं प्राप्त कर सकते।

नेता बन कर अपने को नेता न समझना, यही नेतृत्व का मुख्य लक्षण है। जो लोग अपने को नेता समझते हैं वे हम लोगों से बाहर हो जाते हैं—न तो वे ही हमारे बल से लाभ उठा सकते हैं और न हमी उनके बल से। नेता की सफलता अपने साथियों की सफलता में है। नाम नेता का होता है पर कार्य्य-सिद्धि साथियों की। फिर नेताओं को अपने साथियों से बड़ा समझने का क्या अधिकार ?

नेता की श्रेष्ठता केवल इस बात में है कि, वह उस आदर्श को पहले देखता है जिसको कि, उसके साथी पीछे से देखेंगे। वह नेता सच्चा नेता नहीं जो अपने साथियों को अपनासा नहीं बानता। लोहे को सोना बनाना कोई दुष्कर कार्य्य नहीं किन्तु लोहे को पारस बना देना कठिन है।

नेता का कार्य्य दूसरों को उनकी संकुचित दृष्टि के कारण अन्धा कहने का नहीं। वह भी कुछ काल पहिले अन्धा ही था। थोड़े ही दिनों के बाद उसके साथी दूर का पदार्थ देखने लग जायँगे। नेता को चाहिये कि वह अपने अनुभव को दूसरों का अनुभव बनाने का यत्न करे। लोगों के दृष्टि-कोण को अपने दृष्टि-कोण से मिलाना ही नेता का परम कर्त्तव्य है। नेता की कमी नहीं। प्रत्येक मानव-समाज में नेता विद्यमान

हैं। उन में केवल एक बात की आवश्यकता है कि, वे अपना नेतृत्व भूल जावें। अपने को साधारण लोगों में से समझे। समाज में मिल कर सारे समाज को अपने नये रंग में रँग दें। ऐसा करने से मूर्ख लोग पंडित बन जायँगे। मूक भी वाचाल हो जायँगे। पिछड़े हुए लोग अग्रसर हो जायँगे। साथी और नेता में कोई भेद न रहेगा। चेला भी गुरु बन जायेंगे।

फिर निराशा क्यों ?





"कर्मयोग की मौज"

कर्म-प्रधान विश्व करि राखा

—तुलसी

"तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते"

श्रीमद्भगवद्गीता।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः

ईशोपनिषद्।

हम संसार-सागर के वक्षस्थल के ऊपर बहने वाले तृण नहीं। उस सागर की गति का वेग निश्चित करने में हमारा बहुत बड़ा भाग है। संसार में सामञ्जस्य स्थापित करना हमारा मुख्य उद्देश्य है। ईश्वर चाहता है कि, हम नितान्त दूध पीनेवाले बच्चे न बने रहें। वह संसार को एक ओर चलाने की शक्ति

रखते हुए भी हमारी पुष्टि और वृद्धि के लिये अपनी अपरिमित शक्तियों का संकोचन किये रहता है। हमको क्रियापरायण और उद्यमशील देख कर वह प्रसन्न होता है। वह कभी नहीं चाहता कि, आश्रित जीव निरे मिट्टी के पुतले बने रहें। निष्क्रिय मिट्टी के पुतलों का ईश्वर होना कोई गौरव का विषय नहीं।

कर्म को छोड़ना ही बन्धन में पड़ना है। कर्म के त्याग से ही पानी के ऊपर बहते हुए क्रियाशून्य तृण की भाँति हमारी दशा हो जाती है। इससे और अधिक बन्धन क्या हो सकता है ? फिर तो क्या कर्म के करने से बन्धनों की रस्सी टूट जाती है ?। ऐसा भी नहीं। चोरी भी तो एक कर्म ही है पर चोर को पाप से छुटकारा नहीं मिलता। जो कर्म संसार में अनेकता का भाव पैदा करते हैं, वे संसार में सामञ्जस्य स्थापित करने में अक्षम रहते हैं। वे व्यष्टि को समष्टि से अलग कर उसे समष्टि के यथेष्ट बल के लाभ से वञ्चित कर देते हैं। उसकी सक्तियोंका पूर्ण विकाश नहीं होने पाता। नीच स्वार्थ-साधन के निमित्त किये हुए कर्म-जल-कण को सागर से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। सागर से पृथक् होकर जल-कण गतिहीन हो जाता है—यही परम बन्धन है, व्यष्टि का समष्टि से अलग होना असाम्यको बढ़ाता है। असाम्य-द्वारा समष्टि और व्यष्टि दोनों ही का सम्बन्ध-तन्तु क्षीण हो जाता है। शक्तियों का यथेच्छ एवं यथोचित विकाश न होना ही बन्धन है। कर्म में

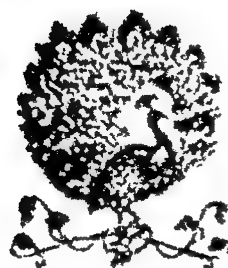
सङ्कोच-द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकती। पुनः, मोक्ष किस कर्म से है; वह मोक्ष किस प्रकार की होगी और कब मिलेगी?।

जिन कर्मों का मूल केवल स्वार्थसाधन में संकुचित नहीं हो सकता—जो कर्म सत्ता-सागर के जल-कणों में सामञ्जस्य स्थापित कर संसार-सागर की उन्नति के विकास में योग देते हैं—वेही कर्म मोक्ष-प्रद हैं। समष्टि की उन्नति में ही व्यष्टि की भी उन्नति है। व्यष्टि समष्टि से अलग हो अपनी स्थिति नहीं रख सकती। समष्टि ही व्यष्टि की सच्ची आत्मा है। समष्टि के लिये जो कर्म है उसी में सच्चा स्वार्थ है।

समष्टि के योग से जो व्यष्टि की क्रियायें होती हैं वे ही उसकी शक्तियों को यथोचित रीति से विकसित करने में समर्थ होती हैं। वही उसकी संकीर्णता और परिमितता को छिन्न-भिन्न कर सकती है। कर्म ही व्यष्टि को समष्टि से मिला देते हैं। वेही उसके जटिल बन्धनों को तोड़ने में समर्थ होते हैं। वेही कर्म उसको ईश्वर के निकट पहुंचाने में समर्थ होते हैं। वेही कर्म ईश्वर और मनुष्य के संकल्पों की एकता की रचना कर मनुष्य की परिमितता को छुड़ा देते हैं। यह मोक्ष स्वार्थ की मोक्ष नहीं यही मोक्ष समष्टि की मोक्ष है। फिर यह मोक्ष कोई दूरवर्ती मोक्ष नहीं। इस मोक्ष का अनुभव प्रत्येक सत्कार्य्य के करने समय होता रहता है। यदि मोक्ष

की प्राप्ति करना है तो सत्कार्य्यं की ओर रुचि बढ़ाना चाहिये यह मोक्ष दुर्लभ नहीं। न इसके लिए बहुत काल तक ठहरना पड़ेगा। मनुष्य होते हुए भी हम अपनी परिमितता छोड़ सकते हैं। ईश्वर की सन्निधि में पहुँच सकते हैं। बिना मरे ही मोक्ष मिल सकती है।

फिर निराशा क्यों ?



चिर-वसन्त



Come and rejoice for April is awake.

Fling yourselves into the flood of being bursting the bondage of the past.

April is awake.

Life's shoreless sea is heaving in the sun before you.

All the losses are lost, and death is drowned in the waves.

Plunge into the deep without fear,

with the gladness of April in your heart.

---The cycle of Spring.



सर्वं प्रिये ! चारुतरं वसन्ते"—वसन्तऋतु में सभी पदार्थ मन-मोहिनी शोभा धारण कर मनुष्य के चित्त को चलायमान कर देते हैं. केवल मनुष्य का चित्त ही चलायमान नहीं होता, किन्तु सारी चराचर सृष्टि में ऋतुराज के स्वागत के अर्थ क्रिया की स्फूर्ति होने लगती है। वृक्ष और लतायें हर्षोत्फुल्ल हो अपने सुन्दर अंगों को नूतन पल्लवों के विकाश से पुलक-पल्लवित

बना लेती हैं। शीतलमन्द सुगन्ध वायु का सुखद सञ्चालन, विविध विचित्र विहगों का सरस कल-रव और पशुओं की भाँति भाँति की केलि यह सब क्रिया-सञ्चार की साक्षी हो रही हैं। "ऋतूनां कुसुमाकरः"—इन अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा श्रीकृष्ण भगवान ने भी इस ललित कलित वसन्त ऋतु की महत्ता और गरिमा बतलाई है।

क्या हम इस वसन्त को चिरस्थायी बना सकते हैं?। हाँ, हम अपने सद्भावों द्वारा बीत जानेवाली ऋतुओं की गति को फेर सकते हैं।

जिसके हृदय में प्रेम है उसे सब वस्तु ही परम प्रिय दिखाई पड़ती है। उसके लिये काल-विशेष की आवश्यकता नहीं। प्रेमान्ध को श्रावण मास के अन्धे की भाँति दिग्दिगन्त में खाली हरियाली ही दृष्टिगोचर होती है। उसके लिये प्रेमास्पद वस्तु की प्रत्येक बात नवीनता, प्रफुल्लता और सुप्लुता धारण कर लेती है। उसके हृदय-क्षेत्र में उगे हुए उज्ज्वल अंकुर कभी नहीं कुम्हलाते। वे दिन दूना रात चौगुना वृद्धिङ्गत होते रहते हैं। जिस हृदय में प्रेम-वसन्त अपनी बहार दिखा रहा है उसमें से सत्-क्रियाओं के स्रोत निशिवासर बहते रहते हैं। जिसके हृदय में परोपकार करने की लालसा लगी हुई है उसके लिए कोई भी मुहूर्त्त बुरा नहीं। क्रियावान के लिए कोई भी विघ्न नहीं। उस

के लिए कण्टक भी कुसुम बन जाते हैं। सारा संसार आशा के मधुर फलों से सुसज्जित दिखाई पड़ने लगता है। यही है—चिरवसन्त—मधुरमधुमयमधुमास !

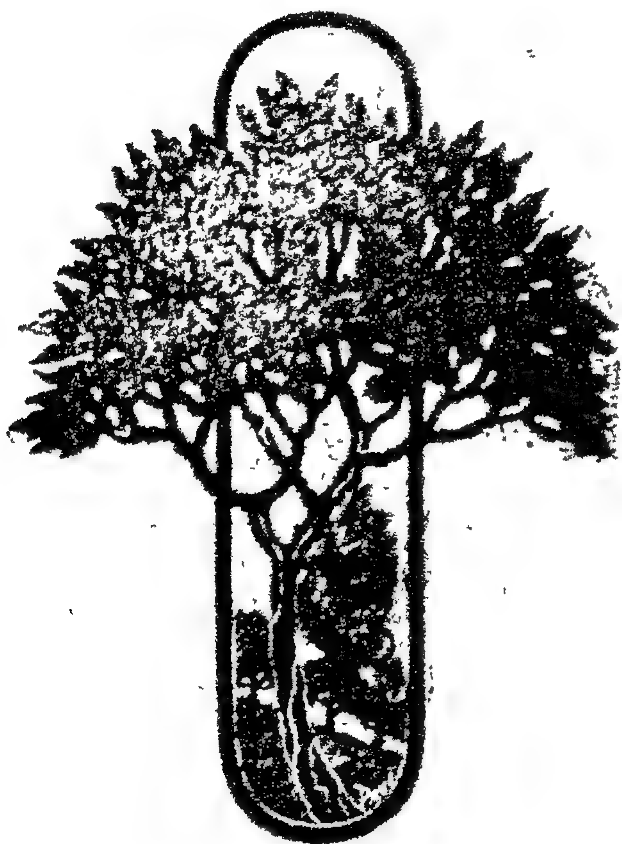
इस चिर-वसन्त में विहार करने के लिये हमको कहीं दूर न जाना पड़ेगा। किन्तु रुचिर चिरवसन्त के शुभागमन के पूर्व ही हमारे हृदयोद्यान में वैमनस्य, आलस्य, निराशा, दुर्बलता, क्रोध, लोभ, भ्रान्ति, दम्भ, द्रोह, द्वेष, मात्सर्य, अहङ्कार आदि अवगुणों के पतझड़ की आवश्यकता है। एक बार यदि आप विश्वप्रेम को अपने हृदय-सिंहासन पर स्थान-प्रदान करने का दृढ़ संकल्प करेंगे तो सारी क्षुद्रता अपने आप ही जाती रहेगी। जब नयी २ पत्तियों का भीतर ज़ोर होने लगता तब सूखी हुई पत्तियाँ आपही आप गिर जाती हैं। एक बार इस चिर-बाल-वसन्त को अपने हृदयोद्यान में बुलाइये। फिर तो इसका राज्य अटल हो जायगा। आप में बल का सञ्चार होने लग जायगा। सारी सृष्टि सुषमामयी बन जायगी। परमानन्द की त्रिविध बयारि आपके उत्साह और आशा को बढ़ावेगी। आपको चारों ओर से सफल-मनोरथ होने का आशीर्वाद मिलने लगेगा।

वसन्त के आ जाने पर पतझड़ की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। एक बार इस वसन्त की स्थापना हो जाने पर फिर सब पिछली निराशायें नामशेष रह जायेंगी।

वीर-मन्दिर आरा

का

नया सूचीपत्र ।



प्रकाशक

अनन्त कुमार जैन

वीर-मन्दिर, आरा

नियम और सूचना

१—पुस्तकें उधार, घरपर देखने और वापस लेनेका नियम नहीं है। १) से कमकी वी० पी० नहीं भेजी जाती। इससे कमके लिये टिकट भेजना चाहिये, टिकट मिलनेपर पुस्तक तुरन्त बुक-पोस्टसे भेज दी जाती है, राहमें गुम हो जानेकी जिम्मेदारी हमारी नहीं।

२—ठिकाना और पुस्तकों का नाम बहुत साफ और पूरा लिखा जाना चाहिये।

३—एक ही नाम की कई विषयों की या कई लेखककों की लिखी पुस्तक रहती हैं, इसलिये मांग लिखते समय पुस्तक का विषय या लेखकका नाम अवश्य लिखना चाहिये।

४—सार्वजनिक संस्थाओं तथा थोक खरीदारों को २५) से ऊपरकी पुस्तकों पर उचित कमिशन दिया जाता है। पुस्तकों के नाम मालूम होने पर कमीशन की दर बताई जा सकती है।

५—डाकव्यय बढ़ जानेसे अधिक पुस्तकें रेलद्वारा मंगाने ही में सुभीता है। अधिक पुस्तकें मंगाते समय कमसे कम १०) पेशगी अवश्य भेजना चाहिये, बिना पेशगी के रेल द्वारा कोई पार्सल नहीं

पता—वीरमन्दिर आरा

भेजा जाता।

६—कई पुस्तकें समयपर स्टाकमें नहीं रहतीं इसलिये जो जो पुस्तकें रहती हैं भेजी जाती हैं।

७—पुस्तकों का मूल्य प्रकाशक की आज्ञानुसार घट बढ़ भी जाया करता है। इसलिये प्रायः छपे दाम से कम या बेशी भी लिया जाता है। परन्तु लिया जाता है ठीक ही ठीक।

८—किसी वी० पी० में भूल जान पड़े तो लौटाना नहीं चाहिये। लिखनेपर भूल सुधार दी जाती है।

९—यदि आर्डर भेजे १० दिन हो जाय और पुस्तकें अथवा कोई उत्तर न मिले तो दूसरा आर्डर भेजना चाहिये।

पता:—

अनन्त कुमार जैन

आरा।

अनन्त पुस्तक माला आरा

प्रवेश फी ॥)



हमारे यहां से इस नामकी एक ग्रथमाला प्रकाशित होती है। इसका उद्येश्य अच्छे २ साहित्य, गल्प लेख इतिहास उपन्यास नैतिक सामाजिक तथा रास्ट्रीय पुस्तकों का प्रकाशित करना है स्थायी ग्राहकों को पूर्व प्रकाशित और आगे प्रकाशित होने वाली सभी पुस्त के पौनी कीमत में दी जाती है। पूर्व प्रकाशित ग्रन्थों का लेना न लेना ग्राहकों की इच्छा पर निर्भर है परन्तु आगे के प्रकाशित ग्रथों में साल मे १०) मूल्य की पुस्तक अवश्य लेनी पड़ती है। नयी पुस्तक प्रकाशित होते ही सूचना दो जा1 है। ग्राहकों को यदि पुस्तक न लेनी हो तो सूचना पाते ही अस्वीकृति पत्र लिख देना चाहिये। सूचना देने के एक सप्ताह बाद पुस्तक वी० पी० से भेज दी जाती ह।

पता—वीरमन्दिर आरा

पुस्तक वापिस आने से डाकव्यय ग्राहकों को देना पड़ता है

निम्न लिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रेम पुष्पांजलि १)

सेवाधर्म १॥)

राष्ट्रीय तरंग ।-)

त्रिवेणी ॥।=) (प्रेस में)

विचित्र वीर ।)

फिर निराशा क्यों ? ॥।≤)

पता:—

अनन्त कुमार जैन

वीरमन्दिर

आरा

प्रथमपुष्प



मपुष्पांजलि क्या है, प्रेमकी पिटारी है, आनन्दकी फुलवारी है, स्वर्गीयफूलों की क्यारी है, मधुरता की अटारी है, सौंदर्य की कटारी है, जादू की सवारी है, मोहनी की पिचकारी है, हृदयों की दुलारी है, दिव्य ज्वाला की चिनगारी है, अचूक शिकारी है, सहयोगियों की प्यारी है, ब्रजमण्डल की पनीहारी है, दिल की गिरफ्तारी है, तारूण्यकी ताजी तरकारी है, तभी तो हिन्दी संसार के विख्यात तथा प्रसिद्ध महानुभावों और पत्रिकाओं की प्रशंसा प्राप्त करनेवाली है। मूल्य केवल १।)

सरस्वती (प्रयाग)—सम्पादक पूज्य द्विवेदी जी—देखकर प्रसन्न............बड़ी दिव्य है......अच्छी कविताएँ चुनी हैं।

श्री सारदा (जबलपुर)

प्रेमपुष्पाञ्जलिः—सम्पादक बाबू शिवपूजन सहाय, प्रकाशक वीरमन्दिर आरा पृष्ठ संख्या १०० मूल्य १।) हिन्दी के सामयिक अनेक पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित प्रेम सम्बन्धिनी कविताओं का

यह संग्रह है। उर्दू आदि की भी कुछ कवितायें हैं। कुछ गद्यांश भी हैं, सभी कवितायें भाव पूर्ण हैं। कुछ तो इतनी सरस हैं कि, कण्ठ किये जाने योग्य हैं। समूचा संग्रह सम्पादक महाशय की सुरुचि का परिचायक है। पुस्तक अच्छे कागज़ पर सुन्दर रीति से छापी गयी है।

समाजसेवक (नागपुर)

प्रेमपुष्पांजलि :—पुस्तक का मुख्य विषय की स्वच्छता और सम्पादनशैली की उत्तमता पर विचार करने से कम ही जँचता है। अच्छे २ भावपूर्ण पद्यों का मनोहर संग्रह है। गद्यांश भी उत्तम हैं। कवितायें स्त्रियों के लिये आनन्द की पेटिका है। प्रचार होना चाहिये।

बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०—बाह्य रूप तो मनोहर है ही; प्रेम की व्याख्या, उसके गुणों का वर्णन चित्ताकर्षक है।

पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी :—परम प्रसन्नता—प्रतिभा परिश्रम प्रशंसनीय—प्रेमी पाठकों पर प्रेम का प्रचुर प्रभाव पड़ेगा।

कविवर मैथिलीशरण गुप्त—मेरी सम्मति में यह एक चीज़ है जिसका अन्तरङ्ग बहिरङ्ग मनोमोहक है।

पं० कृष्णकान्त मालवीय बी० ए०—बहुत ही सुन्दर है। खूब

परिश्रम किया है। संग्रह का क्रम भी अनोखा है।

श्रीवङ्कटेश्वर समाचार (बम्बई)

प्रेमपुष्पांजलिः—यह तृतीय संस्करण इतना अच्छा हुआ है कि, पहलेके संस्करणों के पाठकों के लिये भी यह बिल्कुल नयी सी हो गयी है। पद्यों का चुनाव चित्ताकर्षक और श्लाघ्य है। सम्पादकका वक्तव्य बड़ा मनोहर है। छपाई सफाई एक नम्बर की है। पुस्तक उपादेय और संग्रहनीय है।

राजस्थान केशरी (वर्धा)

प्रेमपुष्पांजलि—प्रेम सम्बन्धिनी अनूठी कविताओं का अपूर्व संग्रह बड़ी सजधजसे प्रकाशित हुआ है। सम्पादक और प्रकाशक धन्यवादके पात्र हैं गद्य पद्य जो कुछ है मनोरञ्जक और तृप्तिकर है। चुनावकी प्रतिभा और सजावटका ढङ्ग सराहनीय है। कुछ घण्टों तक दिल बहलाने का अच्छा सामान है।

माधुरी कार्यालय (लखनऊ)

प्रेमपुष्पांजलिः—प्रकाशक अनन्त कुमार जैन संग्रहकर्त्ता स्व० कुमार देवेन्द्र प्रसाद जी और सम्पादक बाबू शिव पूजन सहाय जी मूल्य १।)

इस पुस्तकमें प्रेम सम्बन्धिनी अनेक लेखकों व कवियों की गद्य पद्यात्मक रचनाओं का अच्छा और अपूर्व संग्रह किया गया

है। प्रेम पुजारी बाबू देवेन्द्र प्रसाद जी का नाम अमर रखने के लिये यही उनकी एक कृति काफी होगी। पुस्तक पढ़कर मनुष्य ईश्वर का उपासक बन जायगा; इसमें कोई सन्देह नहीं। इस पुस्तक का यथोचित आदर होना चाहिये।

तृतीय सम्वर्द्धित संस्करण भी अब छप चुका है। शीघ्रता कीजिये। नहीं तो सचमुच पछताइयेगा। मूल्य केवल १।)



विशेष सूचना

यह है कि हमारे यहाँ पुस्तकों के अतिरिक्त पारचून की चीजें लालटेन, चिमनी, ताला, सूई, कागज, कलम, निकेल के सामान शीशी, बिस्कुट, फुटबाल इत्यादि भी सदा बिक्री के लिये तैयार रहती हैं। इस के अतिरिक्त लकड़ी के सामान बेञ्च कुर्सी मेज टेबुल का प्रबन्ध भी बड़ी आसानी से हो सकता है।

पता—

अनन्त कुमार जैन

वीरमन्दिर आरा

द्वितीय पुष्प

सेवाधर्म

सेवाधर्म क्या है, अन्तरात्मा का अमृत-मय व्याख्यान है, शान्ति-पूर्ण जीवन का विश्रामस्थान है, स्वर्ग का सोपान है, सुरलोक का विमान है, श्रद्धा भक्ति का अमूल्य सामान है, सुधा सूक्तियों का कुसुमित उद्यान है, देशभक्ति दुर्गपर फहराता हुआ निशान है, उपदेश के वाक्यों से सुसज्जित कर्म का कमान है। इसलिये अनेक पत्र पत्रिकाओं से प्रसंसा प्राप्त है।

प्रभा—(कानपुर) इसमें आरंडेल साहब की The way of Service के भावानुवाद के अतिरिक्त प्राचीन तथा नयी सेवा-सम्बन्धी सूक्तियों का समावेश किया गया है। सूक्तियाँ इतनी उत्तम तथा प्रभावोत्पादक हैं कि, वे प्रत्येक नवयुवक और युवती को कण्ठ कर लेनी चाहिये।

पता—वीरमन्दिर आरा

माधुरी (लखनऊ) सेवा धर्म:—प्रकाशक, श्रीअनन्त कुमार जैन आरा संग्रहकर्त्ता और सम्पादक बाबू शिवपूजन सहाय जी २०×३०. १६ पेजीके ११२ पृष्ठ हैं। कागज बढ़िया ऐंटिक है। छपाई सफाई सबसुन्दर है। मूल्य ।॥)

इस पुस्तकका प्रथम संस्करण हमारे मित्र स्व० देवेन्द्र प्रसाद जैन ने निकाला था। यह दूसरा संस्करण है। इसमें भी पहले ही के समान मनोहरता लानेका उद्योग किया गया है। सेवा-धर्म के सम्बन्ध में ध्यातव्य बातों का इसमें अच्छा समावेश किया गया है। आशा है, पहले के समान इस संस्करण का भी अच्छा आदर होगा।

माडर्न रिव्यू (कलकत्ता) पुस्तक बड़ी सुन्दर है, स्वदेशी भाइयों की सेवा पर उत्तम विचार प्रकट किये गये हैं।

जैनगजट (मद्रास) सेवा धर्म आत्मोन्नतिका सर्वोत्तम साधन है। इससे चित्ताकर्षिणी शिक्षाएं मिलती हैं।

आत्मोद्धार अखबार—विश्वसेवा पर गूढ़ विचार बड़ी सरल और ओजस्विनी भाषा में समझाये गये हैं।

पाटली पुत्र (पटना)—सेवाधर्म योगियों के लिये भी अगम्य है। उसीका महत्व इसमें विशेष रीतिसे दिखाया गया है। इसके पढ़नेसे चित्त शान्त, हृदय प्रफुल्लित और आत्मा तृप्त होती

है। विचार बड़े अनमोल और गम्भीर हैं।

विहारी पटना)—शुद्ध और हृदयग्राही विचारों से भरी हुई यह पुस्तक प्रत्येक स्वयंसेवककी जेवकी शोभा बढानेके योग्य है।

सचमुच सेवा समितिका एक भी सदस्य इस पुस्तकके विन अपना कर्तव्य नहीं पहचान सकता, यह द्वितीय संस्करण बड़ा अपूर्व निकला है। खप चला। शीघ्रता कीजिये। मूल्य १॥)



तृतीय पुष्प

राष्ट्रीय तरंग

राष्ट्रीयता की लहर देश भर में उमड़ रही है। उसी लहर-की बहार इस पद्य संग्रह में देखने योग्य है। फड़कती हुई दिल चस्प कविताओं को पढ़ कर एक वार हृदयमें देश भक्ति की ऊँची तरंग उठ आती है। इस में बड़े २ कवियों के कर कमलों से निकली हुई उच्च भावोत्पादक सुन्दर २ कविताएँ भरी हुई हैं पुस्तक उपादेय और सराहनीय है। ऐसा राष्ट्रीयपद्य-संग्रह अभी तक नहीं छपा है। चुनी हुई कविताएँ अत्यन्त मनोमोहक है।

पता—वीरमन्दिर आरा

कुछ ही रोजों के भीतर इसकी सैकड़ों प्रतियाँ बिक गयीं अब केवल २०० प्रति बाकी रह गयी है शीघ्रता कीजिये पुस्तक का मूल्य भी इसकी सरसता की ओर ध्यान देने से मुफ्त ही जान पड़ता है। सर्वसाधारण की सुविधा के लिये मूल्य केवल ।-) ही रक्खा गया है।



(२) "त्रिवेणी"

सरस्वती-सम्पादक पूज्यपाद द्विवेदीजी—

"मानस-मलिनता-नाशिनी उतारिबे को।
गंगा समान तेरी पुस्तक त्रिवेणी है॥"

कविवर पण्डित अयोध्या सिंह उपाध्याय—छोटी सी पुस्तिका में सर्वतोमुखी प्रतिभा का विकाश!

कविवर पण्डित माधवशुक्ल—सुन्दर पुस्तिका जैसी ही छोटी है वैसी ही अत्यन्त भावपूर्ण है। लेखनशैली की प्रशंसा करना व्यर्थ है।

"फिर निराशा क्यों?" के लेखक महोदय लिखते हैं—"निद्रा देवी का आवाहन कर रहा था कि, इतने में आप की मानसिक गंगा की

15. Nyayawatara	... ...	0	8	0
16. Nyáyakarnika	.. ..	0	8	0
17. Science of Thought	... ..	0	8	0
18. Atmadharma	....	0	4	0
19. Sanatan Jaina Dharma	..	0	5	0
20. Sacred Philosophy	..	0	3	0
21. What is Jainism ...	.. ...	0	1	0
22. Boys' and Girls' Logic	... ...	0	0	6
23. Pure Thoughts	.. ..	0	2	0
24. Peep behind the veil of Karma		0	2	0

To be had ot.

Anant Kumar Jain.

VIR MANDIR,

Arrah.

* Apply for Separate Catalague of SCHOOL BOOKS to the above Address.

Printed at the Saraswati Printing Works, ARRAH,